प्रेमचंद और ग़बन

[प्रश्न और उत्तर में]

—श्री राजनाथ शर्मा एम० ए०

विनोद पुस्तक मन्दिर
हॉस्पिटल रोड, आगरा

दो शब्द

'ग़बन' प्रेमचन्द का यथार्थवादी उपन्यास माना जाता है। कहा गया है कि इसमें प्रेमचन्द की उपन्यास-कला ने विकास का एक नया ड़ लिया है। उपन्यास को पढ़ने से उपरोक्त दोनों ही बातें सत्य ीं। हमारे मध्यवर्ग का जितना यथार्थ एवं प्रभावक चित्रण, उसके प्रति लेखक की पूर्ण सहानुभूति और सहृदयता के साथ, इस उपन्यास में मिला उतना अन्यत्र अभी तक देखने में नहीं आया। इस उपन्यास का कोई भी पात्र अपनी सम्पूर्ण बुराइयों के साथ होते हुए भी पाठक की सहानुभूति नहीं खो पाता।

'ग़बन' में प्रदर्शित समस्या के विषय में कुछ विवाद रहा है इसलिए उस पर विशेष रूप से विस्तार के साथ प्रकाश डालने का प्रयत्न किया ा है।

प्रेमचन्द एक ऐसे महान साहित्य-साधक थे जो युगों में उत्पन्न हुआ रते हैं और 'ग़बन' ऐसे प्रेमचन्द की सफल एवं अत्यन्त सुन्दर कृति माना जाता है।

लेखक की समझ में, जिसमें अग्रज आलोचकों का बहुत बड़ा भाग 'गबन' जैसा आया, वैसा ही उसका विवेचन कर दिया गया।

आशा है विद्यार्थीगण इससे समुचित लाभ उठा सकेंगे।

अगस्त १९५७,
री प्रचारिणी सभा,
आगरा।

राजनाथ शर्मा

विषय-सूची

क्रम संख्या | पृष्ठ संख्या

प्रेमचन्द और ग़बन

[प्रश्न ग्रौर उत्तर में]

ग़बन

प्रश्न १—प्रेमचन्द के जीवन और उनकी स्वभावगत विशेषताओं का वर्णन करते हुए एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

उत्तर—श्रेष्ठ साहित्यकार युग द्रष्टा, युग निर्माता एवं अपने युग का सफल चितेरा होता है। वह युग से प्रभावित होता है और युग उससे। इस प्रकार युग और कलाकार के परस्पर सहयोग से कलाकार की प्रतिभा का विकास होता रहता है। परिस्थितियों से उद्भूत विभिन्न घटनायें उसके जीवन में घटती रहती हैं जिनसे प्रभावित होकर अपनी चिन्तन शक्ति एवं गहन निरीक्षण दृष्टि के सहारे उसकी प्रतिभा एवं विचारधारा नए-नए मोड़ लेती रहती है। कलाकार अपने साहित्य के द्वारा विभिन्न सिद्धान्तों एवं उद्देश्यों की सिद्धि के निमित्त बराबर प्रयोग करता रहता है। कुछ कलाकार ऐसे होते हैं जो अपनी मान्यताओं को ही स्वयं सिद्ध समझ कर, अपने अहं के मोह में ग्रस्त, युग की शिक्षा को ग्रहण करने से इन्कार कर देते हैं। फल यह होता है कि निरन्तर गतिशील युग आगे बढ़ जाता है और वे पीछे रह जाते हैं। सफल कलाकार उसे ही माना जा सकता है जो युग से निरन्तर आदान प्रदान का सम्बन्ध रखते हुए आगे बढ़ता है। प्रेमचन्द ऐसे ही सफल कलाकार थे।

प्रेमचन्द का युग भारत की राजनीतिक एवं आर्थिक दासता की कहानी रहा है। निम्न मध्य वर्ग के होने के कारण प्रेमचन्द को भी इन दोनों प्रकार की दासता का अपने बचपन से लेकर जीवन के अन्तिम समय तक निरन्तर कटु अनुभव होता रहा था। उन्होंने जीवन भर परिस्थितियों से संघर्ष किया था और यही जीवन-व्यापी संघर्ष उनके साहित्य में साकार हो उठा है। उन्हें जीवन-पर्यन्त क्षण भर को भी

इन भयंकर संघर्षों से नजात नहीं मिली इसी कारण उनके जीवन में गहरे उतार-चढ़ाव नहीं आये। उन्होंने अपने जीवन के विषय में लिखा हैं कि—"मेरा जीवन सपाट, समतल मैदान है; जिसमें गड्ढे तो कहीं-कहीं है, टीलों, पर्वतों, घने जंगलों, गहरी घाटियों और खंडहरों का स्थान नहीं है।"

प्रेमचन्द का माता-पिता का दिया हुआ नाम धनपतराय था। इनका जन्म बनारस से चार मील दूर 'लमही' नामक गांव में एक अत्यन्त सामान्य स्थिति के कायस्थ मुंशी अजायबराय के यहाँ ३१ जुलाई सन् १८८० में हुआ था। पिता के पास थोड़ी सी खेती थी और वे साथ ही डाकखाने में बीस रुपये माहवार के मुंशी भी थे। सब मिला कर भी घर में सदैव तंगी का आलम रहता था। परन्तु माता आनन्दी देवी एक सन्तोषी नारी थीं इस कारण परिवार का छकड़ा किसी न किसी तरह चलता ही रहता था। सात वर्ष की अवस्था में हमारा चरित-नायक मातृस्नेह से वंचित हो गया। अभावों की दुनियाँ में पलने वाले इस बालक की यह निधि भी विधाता को अखर गई। मातृस्नेह के अभाव की यह पीड़ा प्रेमचन्द की अनेक कहानियों में फूट पड़ी है।

पहली पत्नी का देहान्त होने पर अजायबराय ने दूसरी शादी कर ली। विमाता का व्यवहार बालक के साथ सदैव कठोर एवं उपेक्षा से भरा रहा। इस कारण वह प्रायः घर से बाहर ही खेलकूद में व्यस्त रहने लगा। पिता ने पढ़ने के लिए एक मौलवी साहब के यहाँ भेजा परन्तु घर से प्रताड़ित बालक का मन पढ़ने की अपेक्षा घूमने और खेलने में ही अधिक रमने लगा। इसी घुमक्कड़ खिलाड़ी प्रवृत्ति ने भावी कथा-सम्राट प्रेमचन्द को भारतीय ग्रामीण जीवन एवं उसके मनोविज्ञान से भली प्रकार परिचित करा दिया था। कुछ दिनों बाद पिता की बदली गोरखपुर हो जाने पर धनपतराय भी शहर चले आए और हाई स्कूल में दाखिल हो गए। उस समय वे लगभग १३ वर्ष के थे। हिन्दी कतई नहीं जानते थे। उर्दू पढ़ा करते थे। यहां आकर उनका मन पढ़ाई में लगने तो लगा मगर पुराना सैलानीपन दूर नहीं हुआ। यही

उन्होंने उर्दू के प्रसिद्ध उपन्यासकारों–मौलाना शरर, रतननाथ सरशार, मिरजा रुसबा आदि के उपन्यास पढ़े और 'तिलस्म होशरुबा' जैसा विशालकाय उपन्यास आद्योपान्त पढ़ गए। इस शौक ने उनकी कल्पना-और शैली पर बड़ा गहरा प्रभाव डाला।

दर्जा पास करने के लिए वे अपनी पाठ्य-पुस्तकें भी पढ़ते थे परन्तु उनमें जबरदस्ती मन लगाना पड़ता था इसलिए जो पढ़ते थे उसे भूल जाते थे। गणित उनका सबसे कमजोर विषय था। उन्होंने स्वयं लिखा है—'गणित मेरे लिए गौरीशंकर की चोटी थी। कभी उस पर चढ़ न सका।'' पन्द्रह साल की उम्र में उनका विवाह कर दिया गया। पत्नी रूप और जबान दोनों की ही खराब थीं। उससे उनकी कभी भी नहीं पटी। विवाह के साल भर बाद ही पिता का देहान्त हो गया।परिवार का सारा बोझ धनपतराय पर ही आ पड़ा। आर्थिक सकट तो उनका साथी जन्म से ही रहा था। अब उसने और भयंकर रूप धारण कर लिया। वे दिन भर बनारस पढ़ते, शाम को ट्यूशन करते और तब रात को लगभग आठ बजे अपने गाँव लमही पहुँच पाते।

अन्त में उन्होंने सैकिन्ड डिवीजन में हाई स्कूल पास कर लिया। फर्स्ट डिवीजन आने पर कालेज में फीस माफ हो सकती थी फिर भी इन्होंने फीस माफ करवाने के लिए काफी दौड़ धूप की जिससे बीमार पड़ गए। करीब दो हफ्ते बाद ठीक होने पर एक सिफारिसी चिट्ठी लेकर कालेज में दाखिल होने चले परन्तु उनके हमेशा के दुश्मन गणित ने उन्हें फिर धोखा दे दिया और दाखिला न हो सका। इस पर इन्होंने गणित सुधार कर दाखिला लेने के लालच में शहर में रहने का निश्चय किया और एक वकील साहब के अस्तवल की ऊपर वाली कोठरी में रहकर पाँच रुपए माहवार पर वकील-पुत्र को विद्वान बनाने और स्वयं गणित के सागर को पवनसुत के समान पार करने के प्रयत्न में जुट गए। परन्तु यहाँ भी गणित तो एक तरफ खिसक गया और उपन्यासों के पुराने मोह ने धर दबाया। सम्भव है इससे प्रेमचन्द को नुकसान पहुँचा हो परन्तु हिन्दी को उसका उपन्यास-सम्राट मिल गया क्योंकि ये

ही ग्रन्थ उसके प्रेरक-ग्रन्थ रहे थे।

इस काल में इन्हें कर्ज़दारों, विमाता के कटु व्यवहारों और भयानक गरीबी के अनेक कटु अनुभव हुए। एक बजाज़ के ढाई रुपए वे तीन साल बाद चुका सके थे और उनसे हिन्दी पढ़ने वाले एक बेलदार ने उनसे अपने कर्ज के आठ आने पांच साल बाद उनके गांव जाकर वसूल किए थे। अन्त में जब भूखों मरने की नौबत आगई तो एक दिन इन्हें अपनी एक पुस्तक केवल एक रुपये में बेच देनी पड़ी। उसे बेचकर यह दूकान से उतरे ही थे कि देवदूत के समान एक छोटे से स्कूल के हैडमास्टर से इनकी भेंट हो गई। उन्होंने इनकी दुखगाथा सुनकर इन्हें अपने यहां अठारह रुपए मासिक पर सहायक अध्यापक बना लिया। एम० ए० पास कर वकील बनने का स्वप्न देखने वाले को बीच में ही अठारह रुपए की अध्यापकी करनी पड़ी। जीवन की इसी मजबूरी को प्रेमचन्द ने गोदान में इन शब्दों में व्यक्त किया है—"जीवन की ट्रेजडी और इसके सिवा क्या है कि आपकी आत्मा जो काम नहीं करना चाहती वह आपको करना पड़े।"

अध्यापकी करते हुए ही उन्होंने अपना पहला उर्दू उपन्यास 'हम खुरमा हम सवाब' लिखा जो १९०१ में प्रकाशित हुआ। लेखक का नाम धनपतराय था। साथ ही साथ अपनी पढ़ाई भी आगे बढ़ाते रहे। उस समय गणित एफ० ए० में अनिवार्य विषय था इसलिए इन्होंने एफ० ए० कई साल बाद जब गणित एच्छिक विषय हो गया, पास किया। इसके नौ साल बाद बी० ए० हुए। परन्तु उनका लेखन कार्य बराबर चलता रहा। १९०२ में 'कृष्णा' नामक उपन्यास छपा। इनकी सबसे पहली कहानी 'संसार का सबसे अनमोल रत्न' १९०७ में कानपुर के 'जमाना' नामक उर्दू रिसाले में छपी जिसके सम्पादक मुंशी दयानारायण निगम थे।

१९०५ में इनकी पहली पत्नी इन्हें छोड़कर अपने मायके चली गई। इससे उनकी वैसे भी कभी नहीं पटी थी। इस बात से दुखी होकर प्रेमचन्द ने उसको त्याग दिया और शिवरानी देवी नामक एक बाल-

विधवा से दूसरा विवाह कर लिया जो अब भी जीवित हैं और हिन्दी की अच्छी कहानी-लेखिका मानी जाती हैं। लगभग तीन साल कानपुर रहने के बाद १६०६ में प्रेमचन्द सब-डिप्टी-इन्सपेक्टर बनकर महोवा चले गए। प्रेम चन्द का कानपुर प्रवास उनके जीवन का एक बहुत महत्वपूर्ण भाग रहा। मुंशी दयानारायण निगम और 'जमाना' के सम्पर्क में रहते हुए इनकी प्रतिभा को खिलने का यथेष्ठ अवसर मिला। उन्होंने इस काल में खूब कहानियाँ और लेखादि लिखे।

यह समय विश्वव्यापी आर्थिक संकट का था। देश में अशान्ति थी। काँग्रेस का आन्दोलन उग्र होता जा रहा था। सारे देश में देश-प्रेम की लहर दौड़ गई। प्रेमचन्द का देशप्रेम सर्वप्रथम अपने उग्र रूप मे उनके सर्वप्रथम कहानी संग्रह 'सोजे-वतन' की कहानियों में फूट पड़ा। इस पर प्रेमचन्द ने अपना नाम धनपतराय न देकर नबावराय दिया था। सरकारी नौकर और देशप्रेम की कहानियाँ लिखे—यह बात अँग्रेजों की सहनशक्ति के खिलाफ थी। सरकार ने उन्हीं के हाथों सारी प्रतियाँ नष्ट करवा कर भविष्य में लिखने पर अंकुश लगा दिया। धनपतराय नौकरी की रक्षा करने के लिए 'प्रेमचन्द' के नाम से लिखने लगे। इस घटना के विषय में निगम साहब ने लिखा था कि—"संकीर्ण-हृदय अफसरों का बस चलता तो आज हिन्दुस्तानी साहित्य में प्रेमचन्द का वजूद ही न होता, मगर नदी का प्रवाह किसने रोका है ? हवा का रुख कौन बदल सकता है।"

इस नाम-परिवर्तन का प्रेमचन्द को भी बहुत दुख हुआ था। उन्होंने लिखा है कि—"प्रेमचन्द अच्छा नाम है, मुझे भी पसन्द है। अफसोस सिर्फ यह है, कि पाँच छः साल में 'नबावराय' को फिरोज देने (प्रसिद्ध करने) की जो मेहनत की गई वह सब अकारथ गई। यह हजरत किस्मत के हमेशा लंडूरे रहे और शायद रहेंगे।"

महोबा में छः साल रहने के बाद इनकी बदली बस्ती हो गई। पेचिस का रोग पहले से ही था यहाँ आकर और बढ़ गया। इन्हीं दिनों लिखे उर्दू उपन्यास 'बाजारे हुस्न' का हिन्दी रूपान्तर 'सेवासदन' के

नाम से छपा। १६१८ में 'प्रेमाश्रम' का प्रकाशन हुआ ! अन्त में विश्व-युद्ध के बाद भारत व्यापी असन्तोष, जलियान वाला हत्याकांड और गाँधीजी के असहयोग आन्दोलन आदि से प्रभावित होकर फरवरी १६२१ में इतनी पुरानी सरकारी नौकरी से स्तीफा दे दिया। जन-साधारण के लिए उनके मन में सदैव से सहानुभूति रही थी। 'प्रेमाश्रम' मे उन्होंने अपनी इसी जनवादी भावना का सजग चेतना के साथ, उसके समस्त पहलुओं का, इसी आधार पर चित्रण किया है।

इसके उपरान्त उन्होंने काशी विद्यापीठ के विद्यालय-विभाग में हैडमास्टरी की मगर वह भी एक साल बाद, प्रधिकारियों से मतभेद हो जाने के कारण छोड़ दी। प्रेमचन्द स्वभाव से ही कलाकार थे और कलाकार किसी भी प्रकार के अस्वाभाविक बन्धनों को स्वीकार नहीं कर पाता। १६२४ में जब इनका 'रंगभूमि' छप रहा था, अलवर नरेश ने अन्य सभी प्रकार की सुख-सुविधाओं के साथ ४००) मासिक वेतन पर इन्हें अपने यहाँ बुलाना चाहा परन्तु इन्होंने साफ इन्कार कर दिया क्योंकि खुशामद इनके बस की नहीं थी और नौकरी बिना खुशामद के आगे नहीं बढ़ती। उन्होंने अपनी इसी भावना को एक पत्र में व्यक्त करते हुए लिखा था –"मैं जो आजिज हूँ वह मातहती से, काम ऐसा करना चाहता हूँ जिसमें बजुज़ (सिवाय) मेरी तबियत के और किसी का तक़ाजा न हो। जी में आवे तो रातदिन काम करता रहूँ, जी चाहे तो छोड़ दूँ, और जी में आए तो फौरन करूँ। मगर वह सिर्फ मालि-काना हैसियत से हो सकता है।"

सन् १६२२-२३ में आपको 'मर्यादा' नामक मासिक पत्रिका का सम्पादक बनाया गया। यहाँ इन्होंने डेढ़ वर्ष तक काम किया। वहाँ से हटने पर पुनः अपनी साहित्य-साधना में जुट गए। १६२६ में आपको 'माधुरी' का सम्पादन भार सौंपा गया। इसके साथ ही साथ १६३० से आपने स्वसंचालित प्रसिद्ध 'हंस' नामक पत्रिका का भी सम्पादन प्रारम्भ कर दिया। 'हंस' का प्रारम्भ नवीन लेखकों को प्रोत्साहित करने एवं अपनी निर्भीक स्वतंत्र विचार धारा को प्रकाशित करने के निमित्त

किया गया था। इस कारण इसे अनेक बार सरकारी कोप का भाजन बनना पड़ा। उन्होंने 'हंस' को अपने जीवन के अन्तिम क्षणों तक भयंकर आर्थिक क्षति सहन करते हुए भी बराबर जीवित रखा। अपनी आर्थिक स्थिति को सम्हालने के लिए आप सन् १९३४ में बम्बई फिल्मों में काम करने के लिए गए परन्तु वहाँ का विषैला वातावरण आपको बाँधकर रखने में असमर्थ रहा और आप वहाँ से असन्तुष्ट होकर बनारस लौट आए। आठ हजार रुपए वार्षिक का मोह भी आपको बाँधकर न रख सका।

१९३६ में इनका अन्तिम पूर्ण उपन्यास 'गोदान' प्रकाशित हुआ। इसी वर्ष जून में इनके पेट में एकाएक भयंकर दर्द उठा और उस समय से इनकी हालत बराबर गिरती चली गई। इसी अवस्था में इन्होंने अपना अन्तिम परन्तु अपूर्ण उपन्यास 'मंगल सूत्र' लिखना प्रारम्भ किया जिसे मृत्यु ने पूरा नहीं होने दिया। कार्य करते रहने का मोह इन्हें अन्तिम समय तक बराबर बना रहा। अन्त में ८ अक्टूबर १९३६ को प्रातःकाल इनका स्वर्गवास हो गया। इस प्रकार हिन्दी का सबसे लाड़ला सपूत, जन-नायक, मानवता के दुख दर्दों का सच्चा चितेरा अन्तिम समय तक क्रियाशील बना रहा और अन्त में मृत्यु से पराजित होकर भी अपनी जीवित साहित्यिक परम्परा को अपने पीछे छोड़कर मृत्यु को चुनौती दे गया। अपनी साहित्यिक परम्परा के रूप में प्रेमचन्द आज भी जीवित है। दिग्दिगन्त में उसका यश व्याप्त हो रहा है।

जीवन-व्यापी इस संघर्ष के कर्मठ योद्धा प्रेमचन्द का स्वभाव कोमल, सौम्य एवं स्निग्ध तथा सम्पूर्ण जीवन कर्मक्षेत्र के एक सच्चे त्यागी एवं तपस्वी व्यक्ति का था। वे काम करते समय सब कुछ भूलकर काम करते थे और मनोरंजन के समय खूब कहकहे लगाते थे। उनके समाज में उनके कहकहे बहुत प्रसिद्ध थे। उनका कहना था कि—"यदि तुम हँस नहीं सकते, रो नहीं सकते, तो तुम इन्सान नहीं हो।" हंसराज रहबर ने उनके इन कहकहों का मूल्यांकन करते हुए लिखा है कि—

"ये कहकहे उनके व्यक्तित्व को प्रकट करते हैं।··· जिन्दगी में

इतनी विपत्तियाँ और कठिनाइयाँ सहन करने के बाद भी, अगर वे हँस सकते थे, कहकहे बुलन्द कर सकते थे, तो यह स्पष्ट है कि उन्होंने जीवन के महत्व को समझ लिया था। उनके दृष्टिकोण से जीवन का अभिप्राय, रोना नहीं अपितु हँसना था। इसलिए मुसीबतों के बावजूद वे खुद हँसते थे और दूसरों को भी हँसाते थे।" प्रेमचन्द की यह हँसी उनके सम्पूर्ण साहित्य में बिखरी पड़ी है। उनके पात्र भी जीवन की गहन से गहन विषम परिस्थितियों में दिल खोलकर हँसते हैं।

———— —

प्रश्न २—प्रेमचन्द लिखित साहित्य का संक्षिप्त परिचय देते हुए उनके समय की विभिन्न परिस्थितियों के आधार पर सिद्ध कीजिए कि उनका साहित्य युग का दर्पण है।

उत्तर—प्रेमचन्द हिन्दी कथा-साहित्य के तो सम्राट माने ही जाते हैं साथ ही उर्दू-साहित्य में भी कथा-साहित्य के क्षेत्र में उन्हें लगभग वही रुतवा हासिल है। वे प्रारम्भ से ही उर्दू के विद्यार्थी, अध्येता और लेखक रहे थे। इसलिए सभी प्रारम्भिक कृतियाँ उर्दू में ही लिखी गईं थीं। हिन्दी उन्होंने बाद में सीखी और जब उर्दू में इनकी लेखनी मँज गई तो ये हिन्दी में भी लिखने लगे और अपने जीवन के अन्तिम क्षणों तक हिन्दी में ही लिखते रहे। इन्होंने अपना सबसे पहला उपन्यास 'इसरारे मुहब्बत' और सबसे पहली कहानी 'संसार का सबसे अनमोल रत्न' उर्दू में ही छपी थी। सबसे पहला क्रान्तिकारी कहानी-संग्रह 'सोजे-वतन' भी पहले उर्दू में ही छपा था जिसके कारण 'नबावराय' को 'प्रेमचन्द' बनने पर मजबूर होना पड़ा था।

प्रेमचन्द का हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं का साहित्य बहुत बड़ा है जिसमें दर्जनों उपन्यास और सैकड़ों कहानियाँ हैं। प्रेमचन्द उपन्यास और कहानी लेखक के साथ ही साथ नाटककार, अनुवादक, सम्पादक और सफल निबन्ध-लेखक भी थे। प्रेमचन्द साहित्य का सम्पूर्ण संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है—

हिन्दी-उपन्यास

प्रेमा, सेवासदन, वरदान, प्रतिज्ञा, प्रेमाश्रम, निर्मला, रंगभूमि, कायाकल्प, गबन, कर्मभूमि, गोदान, मङ्गल सूत्र (अपूर्ण)। इन हिन्दी उपन्यासों में से अनेक के उर्दू रूपान्तर उन्होंने स्वयं किए थे जिनका विवरण निम्नलिखित है—

प्रतिज्ञा-बेवा, सेवासदन-बाजार-ए-हुस्न, प्रेमाश्रम-गोशा-ए-आफ़ियत, रंगभूमि-चौगाने हस्ती, कायाकल्प-पर्दा-ए-मिज़ाज़, गबन-गबन, कर्मभूमि-मैदाने अमल, गोदान-गोदान। इनमें में 'प्रतिज्ञा' और सेवासदन पहले उर्दू में लिखे गए थे फिर हिन्दी में आए। शेष सबका हिन्दी से उर्दू में रूपान्तर किया गया था।

हिन्दी कहानी संग्रह

१—सप्त-सरोज, २—नवनिधि, ३—प्रेमपचीसी, ४—प्रेम पूर्णिमा, ५—प्रेम द्वादशी, ६—प्रेमतीर्थ, ७—प्रेम पीयूष, ८—प्रेम कुंज, ९—प्रेम चतुर्थी, १०—पंचप्रसून, ११—सप्त सुमन, १२—कफन, १३—मान-सरोवर नामक पांच भाग, १८—प्रेम प्रतिमा, १९—प्रेरणा, २०—प्रेम प्रमोद, २१—प्रेम सरोवर, २२—कुत्ते की कहानी, २३—जंगल की कहानियाँ, २४—अग्नि समाधि, १५—प्रेम पंचमी, २६—प्रेम गंगा।

उपरोक्त सम्पूर्ण संग्रहों में कुल मिलाकर २५० कहानियाँ हैं जिनमें से अनेक कई संग्रहों में बार बार संग्रहीत की गई हैं।

उर्दू कहानी-संग्रह

१—प्रेम पचीसी, २—प्रेम बत्तीसी, ३—प्रेम चालीसा, ४—सोजे-वतन, ५—फिरदोसे खयाल, ६—ज़ादेराह, ७—दुख की कीमत, ८—वारदात, ९—आखिरी तोहफ़ा, १०—ख्वाबो खयाल, ११—खाके परवाना। इनमें १७८ कहानियाँ हैं। इनमें से अनेक उर्दू कहानियों के हिन्दी में अनुवाद हो चुके हैं। इन उर्दू कहानियों में से अधिकांश कानपुर के 'जमाना' नामक रिसाले में छपी थीं।

नाटक

कर्बला, रूहानी शादी, संग्राम, प्रेम की वेदी ।

जीवनियां

महात्मा शेखसादी, दुर्गादास ।

बाल-साहित्य

कुत्ते की कहानी, जंगल की कहानियाँ, रामचर्चा, मनमोदक ।

अनुवाद

तोल्स्तोय की कहानियाँ, जार्ज इलियट के 'साइलस' मैरीनर' का 'सुखदास', अनातोले फ्राँस के 'थाया' का 'अहंकार', गाल्सवर्दी के 'सिलवर बॉक्स' का 'चाँदी की डिबिया', गाल्सवर्दी के हो 'जस्टिस' एवं 'स्ट्राइक' का न्याय और 'हड़ताल' के नाम से हिन्दी में अनुवाद किए । इनके अतिरिक्त आपने उर्दू के प्रसिद्ध लेखक पं० रतननाथ सरशार लिखित प्रसिद्ध उपन्यास 'फिसानाए आजाद' के कुछ रोचक स्थलों का अनुवाद हिन्दी में 'आज़ाद कथा' के नाम से किया था । यह अत्यन्त सफल एवं प्रसिद्ध उपन्यास माना जाता है ।

सम्पादन

'ज़माना' की सहायक सम्पादकी की तथा मर्यादा, माधुरी, हंस एवं जागरण जैसी प्रसिद्ध पत्रिकाओं के सफल सम्पादक रहे । 'जमाना' उर्दू का मासिक पत्र था जिसके आप अवैतनिक सहायक सम्पादक रहे थे ।

निबन्ध—

आपके लगभग सभी महत्वपूर्ण निबन्धों का संग्रह 'साहित्य का स्वरूप' नाम से किया गया है ।

प्रेमचन्द के हिन्दी साहित्य का थोड़ा सा भाग अभी तक विभिन्न पत्रिकाओं के सम्पादकीय लेखों के रूप में बिखरा पड़ा है जिसका संग्रह अत्यन्त आवश्यक है । साथ ही प्रेमचन्द के उर्दू निबन्धों का हिन्दी अनु-

वाद होना भी उतना ही जरूरी है। आशा है प्रेमचन्द पर उर्दू एवं हिन्दी में खोज करने वाले विद्वान इस कार्य को पूरा कर उर्दू एवं हिन्दी दोनों ही भाषाओं में प्रेमचन्द के सम्पूर्ण साहित्य को उपलब्ध बनाकर दोनों ही भाषाओं का कल्याण करेंगे क्योंकि प्रेमचन्द दोनों ही के लाड़ले सपूत थे। उनकी बिरासत दोनों भाषाओं की अपनी सम्पत्ति है।

प्रेमचन्द की उपरोक्त साहित्य-साधना सन् १९०१ से प्रारम्भ होकर १९३६ तक अबाध गति से चलती रही थी। यह पूरा समय भारतीय समाज का भयंकर उथल-पुथल का समय रहा है। प्रत्येक कलाकार अपने युग से प्रभावित होता है और सच्चा कलाकार वही है जिसके साहित्य में उसका युग साकार हो उठे। प्रेमचन्द हिन्दी के एक मात्र ऐसे कलाकार हैं। कहा जाता है कि यदि प्रेमचन्द-कालीन भारत को समझना और देखना है तो प्रेमचन्द साहित्य का अध्ययन करो। उनके साहित्य में उनका युग अपनी विभिन्न स्थितियों एवं समस्याओं के साथ मुखरित हो उठा है। इसका कारण यह है कि प्रेमचन्द समाज के सजग दर्शक एवं सतर्क प्रहरी थे। युग की कोई भी महत्वपूर्ण घटना, समस्या एवं परिवर्तन उनकी पैनी नज़र से बच नहीं पाता था।

यह काल राजनीतिक और सामाजिक चेतना, संघर्ष और भयंकर उथल-पुथल का काल रहा है। साहित्यिक क्षेत्र में 'सरस्वती' एवं 'इन्दु' जैसी युगान्तरकारी पत्रिकाओं के सफल नेतृत्व ने हिन्दी को नई दृष्टि और नया जीवन दिया। हिन्दी का रूप निखरा, गहराई आई और वह विभिन्न बाधाओं से संघर्ष करती हुई निरन्तर आगे बढ़ती रही। यह हिन्दी का स्वर्ण काल था। प्रसाद, प्रेमचन्द, रामचन्द्र शुक्ल जैसे साहित्यिक महारथियों ने इसके विभिन्न अंगों को पूर्णता प्रदान की। छायावाद इसी काल में पनपा, बढ़ा, और मुरझा गया। प्रगतिवाद का तीखा स्वर भी इसी काल में सुनाई पड़ने लगा था।

देश अँग्रेजी शिकंजे में पड़ा कराह रहा था। चारों तरफ असन्तोष की आग सुलग रही थी। कांग्रेस इसी असन्तोष को विभिन्न प्रकार से

व्यक्त करती हुई लोकप्रियता प्राप्त करती जा रही थी। दूसरी तरफ अँग्रेज सभ्यता का आवरण ओढ़े भारतीय जनता की मूर्खता, दरिद्रता, अन्ध विश्वास, जड़ रूढ़ियाँ आदि को और भी मजबूत बनाते हुए नवीन सभ्यता के साधनों की वृद्धि द्वारा अपनी जड़ें और भी मजबूत करने के प्रयत्नों में प्राणपण से जुटे हुए थे। विद्रोह और दमन की आग में देश झुलस रहा था। विदेशी शासक, धर्म के ठेकेदार, जमींदार, महाजन, सरकारी अहलकार जनता को शासन, धर्म, रीति रिवाज आदि के नाम पर जी भर कर लूट रहे थे। राजनीति भारतीय मध्यवर्ग तक ही सीमित थी। नर्मदली और गर्मदली नेताओं का पारस्परिक संघर्ष चल रहा था। मजदूर असंगठित थे। किसान मूर्ख, दरिद्र, उत्पीड़ित और शोषित थे।

जनता के घरेलू उद्योग-धन्धे विदेशी व्यापार को बढ़ाने के लिए नष्ट कर दिए गए थे। जनता छोटी-मोटी नौकरियों पर टूटी पड़ती थी। शिक्षा के नाम पर अँग्रेजी शिक्षा का प्रचार हो रहा था जो हमारी अपनी परम्परा, संस्कृति और इतिहास के प्रति घृणा उत्पन्न कर हमारे मन में अँग्रेजों की स्वाभाविक श्रेष्ठता का आतंक जमा रही थी और सरकारी शासन की मशीन को चलाने के लिए क्लर्क रूपी पुर्जे ढाल रही थी। भारतीय भी अफसर बन कर जनता का मनमाना शोषण करते थे।

राजनीतिक आन्दोलन प्रारम्भ हुए। पहले बंग-भंग के विरोध में आन्दोलन उठा। प्रथम विश्वयुद्ध में सहायता करने के पुरस्कार स्वरूप हमें 'रौलट एक्ट' एवं पंजाब का भयंकर हत्याकाण्ड प्रदान किया गया। जनता का असन्तोष उग्र से उग्रतर होता गया। इसी समय महात्मा गाँधी ने कांग्रेस का नेतृत्व ग्रहण कर सरकार के खिलाफ सत्याग्रह आन्दोलन छोड़ दिया। मुसलमानों ने खिलाफत आन्दोलन चलाया। इन आन्दोलनों में हिन्दू-मुसलमान कन्धे से कन्धा भिड़ाकर सरकार से लड़े परन्तु सरकार ने दमन द्वारा विद्रोह की इस ज्वाला को शान्त कर दिया और फिर भेद-नीति से काम लेकर हिन्दू-मुसलमानों में

मन-मुटाव पैदा कर भारत व्यापी हिन्दु मुस्लिम दंगों की परम्परा चला दी। 'प्रेमाश्रम' में इस स्थिति का चित्रण किया गया है।

सन् १९२९ में संसार व्यापी मन्दी फैली। भारत की जनता पर इसका भयंकर प्रभाव पड़ा। असन्तोष और भी उग्र हुआ। सरकार-विरोधी समितियाँ बनने लगीं। मजदूरों की रक्षा के लिए ट्रेड यूनियन संगठन बने। किसानों ने करबन्दी आन्दोलन छोड़े। इस आर्थिक मन्दी की स्थिति में जमींदार साहूकार भी बन बैठा और किसानों का बुरी तरह खून पीने लगा। 'कर्मभूमि' और 'गोदान' में इन्हीं आन्दोलनों एवं स्थितियों का चित्रण किया गया। इस स्थिति को सुधारने के लिए कांग्रेस ने बार-बार आन्दोलन किए, सरकार से उसके समझौते हुए परन्तु स्थिति न सुधर सकी। इन आन्दोलनों से सरकार भयभीत हो उठी। १९३५ में उसने नया विधान बनाया जिसके अनुसार देश में चुनाव कराये गए। इन चुनावों में बहुमत प्राप्त कर कांग्रेस ने ९ बड़े-बड़े प्रान्तों में शासन की बागडोर सम्हाली परन्तु इस समय तक प्रेमचन्द का देहान्त हो चुका था।

इसी काल में अँग्रेजी आर्थिक शोषण अपनी पूरी शक्ति के साथ चला। टैक्स, सेना, पेन्शन, भत्ता आदि के रूप में देश का धन विदेश जाता रहा। अँग्रेजी पूँजीपतियों ने यहाँ के उद्योग-धन्धों को सरकार द्वारा नष्ट करवाकर अपनी मिलें खोलीं और व्यापार के नाम पर भारतीयों को लूटने लगे। इसे देखकर कांग्रेस ने स्वदेशी आन्दोलन छेड़ा। इससे विदेशी पूँजीपतियों की टक्कर में देशी पूँजीपति पनपे परन्तु साधारण जनता घाटे में ही रही। प्रेमचन्द के शब्दों में यही हुआ कि 'जॉन' की जगह 'गोविन्द' आ बैठा और आज स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त भी वही स्थिति बनी हुई है।

आर्थिक स्थिति के डाँवाडोल हो जाने से समाज में नाना प्रकार की विकृतियाँ आ गई। नारी की स्थिति अत्यन्त दीन हो उठी। जनता भाग्यवादी बन गई और इसका लाभ उठाकर धर्म के ठेकेदारों ने नाना कुरीतियों, अन्ध विश्वासों और रूढ़ियों का जाल फैला दिया।

छूआछूत, जातिपांति की भावनायें प्रबल बनीं। समाज के नेताओं की काफी शक्ति इन्हीं का निराकरण करने में लगी रही। यह समाज के एक पक्ष की दशा थी जो सब तरह से पीड़ित एवं अशिक्षित था। दूसरा वर्ग वह था जो नवीन अँग्रेजी शिक्षा से प्रभावित होने के कारण अपनी भारतीयता को ही भूलकर देश के भविष्य के लिए भयंकर रूप से घातक सिद्ध हो रहा था। इस वर्ग में भी दो प्रकार के लोग थे—उच्च एवं मध्य। उच्च वर्ग को विलासिता और अत्याचार के अतिरिक्त और कोई काम करने को नहीं था। राजा महाराजा बड़े बड़े जमींदार आदि इसी वर्ग के व्यक्ति थे। मध्यवर्ग अपने गौरांग प्रभुओं का अनन्य भक्त बनकर भारतीय भाषा, संस्कृति, इतिहास, कला, धर्म आदि से घृणा करने लगा था। उसका आदर्श अँग्रेजी भाषा, अँग्रेजी साहित्य एवं अँग्रेजी सभ्यता ही थी। इस वर्ग को इसी कारण सरकारी नौकरियाँ मिल जाती थीं। प्रेमचन्द उपरोक्त दोनों ही वर्गों का चित्रण करते समय आक्रोश से भर उठे हैं। उनकी प्रत्येक कृति में इनका यथार्थ चित्रण हुआ है।

परन्तु प्रेमचन्द ग्रामीण भारत की उपज थे। वे भारतीय किसान की वास्तविक दीनदशा को नजदीक से देख चुके थे। इस कारण यही वर्ग इस युग-पुरुष की सबसे अधिक सहानुभूति का पात्र बना है। उनका साहित्य भारतीय किसान के दुख दर्दों एवं समस्याओं का एक सवाक चित्रपट है।

प्रेमचन्द साहित्य के क्रमिक विकास का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वे अपने युग, उसकी समस्याओं और उनके हल के प्रति कितने अधिक जागरूक थे। जैसे-जैसे युग ने मोड़ लिए हैं वैसे ही वैसे उनकी विचारधारा अपने पूर्व अनुभवों के आधार पर अपनी पूर्व त्रुटियों का परिमार्जन करती हुई अग्रसर होती रही है। उनके प्रथम श्रेष्ठ उपन्यास 'रूठी रानी' में देशप्रेम, स्वाधीनता एवं बहुविवाह जैसी कुप्रथाओं का चित्रण है जिस पर भारतेन्दु युग की विचारधारा का प्रभाव है। 'वरदान' में आर्थिक संकट को आधार मान कर विदेशी

साम्राज्य एवं पूँजीवाद का चित्रण कर देशप्रेम की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है। 'प्रतिज्ञा' में समाज-सुधार आन्दोलनों का चित्रण है जिसका विकास 'सेवासदन' में जाकर हुआ है। इसमें सामाजिक कुप्रथाओं के प्रति सुधारवादी दृष्टिकोण है। 'प्रेमाश्रम' में आकर प्रेमचन्द के राजनीतिक विचारों का प्रस्फुटन हुआ है। इसमें प्रथम विश्वयुद्ध के बाद की भारतीय राजनीतिक स्थिति का चित्रण है। इसमें लेखक गांधीवाद से प्रभावित होता हुआ भी उससे पूर्ण रूपेण सहमत नहीं हो सका है। 'निर्मला' में मध्यवर्ग की सामाजिक बुराइयों का अंकन है। नारी-समस्या प्रमुख है। 'कायाकल्प' में सत्याग्रह आन्दोलन, हिन्दू मुस्लिम समस्या एवं किसान समस्या का चित्रण है। 'रंगभूमि' प्रधान रूप से राजनीतिक उपन्यास है। यह एक प्रकार से गांधीवाद की कसोटी है। इसमें यथार्थ और आदर्श का संघर्ष दिखाते हुए प्रारम्भिक भारतीय पूँजीवाद और सत्याग्रह का परिणाम दिखाया गया है जिसमें यथार्थ आदर्श पर विजयी होता है। 'कर्मभूमि' में पुनः हिन्दू-मुस्लिम समस्या और किसान आन्दोलन को प्रमुखता मिली है। और अपने अन्तिम उपन्यास 'गोदान' में आकर लेखक आदर्श और यथार्थ के संघर्ष को छोड़कर पूर्ण यथार्थवादी बन गया है। यहाँ तक आते आते उसका आदर्श के प्रति मोह समाप्त हो चुका है। किसान मजदूरों की समस्या इसमें अपने पूर्ण एवं सच्चे रूप में चित्रित हुई है। इस प्रकार प्रेमचन्द साहित्य में उनका सम्पूर्ण युग अपनी सम्पूर्ण स्थितियों एवं समस्याओं के साथ साकार हो उठा है। यही प्रेमचन्द की महानता का रहस्य है।

प्रश्न ३—"उपन्यास वे ही उच्चकोटि के समझे जाते हैं जिनमें यथार्थ तथा आदर्श का पूर्ण सामंजस्य हो।" प्रेमचन्द के उपरोक्त कथन का विश्लेषण कीजिए।

उत्तर—प्रेमचन्द को साधारणतः आदर्शोन्मुख यथार्थवादी माना

जाता है। इसका आशय यह है कि उन्होंने यथार्थवाद की पृष्टभूमि पर आदर्श की स्थापना की है। इस बात को अच्छी तरह समझने के लिये हमें पहले आदर्श और यथार्थ सम्बन्धी प्रेमचन्द के मत को जान लेना आवश्यक है। साहित्य की इन दो प्रमुख धाराओं का विवेचन करते हुए प्रेमचन्द ने पिता के दो प्रकार के सन्तान-प्रेम का उदाहरण दिया है। एक में पिता पुत्र की बुराइयों को देखकर उसका घातक शत्रु बन जाता है। दूसरे प्रकार में पिता पुत्र की सम्पूर्ण बुराइयों को देखकर भी उससे कुछ भी नहीं कहता। ये उदाहरण देकर प्रेमचन्द लिखते हैं कि—"अब यहाँ प्रश्न होता है, उपन्यास को इन चरित्रों का अध्ययन करके उनको पाठकों के सम्मुख रख देना चाहिये। उसमें अपनी तरफ से काट-छाँट, कमी-वेशी कुछ न करनी चाहिये। या किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए चरित्रों में कुछ परिवर्तन भी कर देना चाहिए ?

यहीं से उपन्यासों के दो गिरोह हो गए हैं। एक आदर्शवादी, दूसरा यथार्थवादी।"

इसके आगे उन्होंने यथार्थवाद और आदर्शवाद का विस्तार के साथ विवेचन किया है। यथार्थवाद को समझाते हुए उन्होंने लिखा है कि—"यथार्थवादी चरित्रों को पाठकों के सामने उनके यथार्थ नग्न रूप में रख देता है। उसे इससे कुछ मतलब नहीं कि सच्चरित्रता का परिणाम बुरा होता है या कुचरित्रता का परिणाम अच्छा। उसके चरित्र अपनी कमजोरियाँ या खूबियाँ दिखाते हुए अपनी जीवन-लीला समाप्त करते हैं।" "यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है और इस तरह यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है, मानव-चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ बुराई ही बुराई नजर आने लगती है।" इसके विपरीत आदर्शवाद—"हमें ऐसे चरित्रों से परिचित कराता है, जिनके हृदय पवित्र होते हैं, जो स्वार्थ और वासना से रहित होते हैं, जो साधु प्रकृति के होते हैं। यद्यपि ऐसे चरित्र व्यवहार कुशल नहीं होते, उनकी सरलता उन्हें सांसारिक विषयों में धोखा देती

है, लेकिन कांइएपन से ऊबे हुए प्राणियों को ऐसे सरल, ऐसे व्यावहारिक ज्ञान विहीन चरित्रों के दर्शन से एक विशेष आनन्द होता है।"

आदर्श और यथार्थ का उपरोक्त विश्लेषण करने के उपरान्त आप दोनों की तुलना करते हैं—"यथार्थवाद यदि हमारी आँखें खोल देता है, तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है। लेकिन जहाँ आदर्शवाद में यह गुण है, वहाँ इस बात की भी शंका है कि हम ऐसे चरित्रों को न चित्रित कर बैठें जो सिद्धान्तों की मूर्तिमात्र हों, जिनमें जीवन न हो। किसी देवता की कामना करना मुश्किल नहीं है, लेकिन उस देवता में प्राण-प्रतिष्ठा करना मुश्किल है।" इसी कारण प्रेमचन्द अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि—"इसलिये वही उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते हैं जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो। उसे आप 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कह सकते हैं। आदर्श को सजीव बनाने ही के लिये यथार्थ का उपयोग होना चाहिये और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है।"

अपने उपरोक्त विश्लेषण द्वारा प्रेमचन्द आदर्श और यथार्थ को अतिवाद से बचाकर उनका समन्वय करने पर जोर देते हैं। ऐसा करने पर ही साहित्य जनता का सच्चा हित कर सकता है। समांज में सदैव दो प्रकार की शक्तियाँ कार्य करती रहती हैं, प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी। दोनों ही एक दूसरे की शत्रु होती हैं। इसलिये उनके द्वारा की गई कल्पनाओं में भी अन्तर रहता है। आदर्शवाद के विषय में भी यही स्थिति है। अभावों के पूर्ति के प्रयत्नों का इतिहास ही मानव-सभ्यता के विकास का इतिहास है। मानव निरन्तर अपने वर्तमान से असन्तुष्ट रहता हुआ सुन्दर, सुखद एवं उच्च जीवन के स्वप्न देखा करता है। जब उसके एक स्वप्न की पूर्ति हो जाती है, वह उसे अपने क्रियात्मक जीवन में पा लेता है तो वह पुनः उससे और भी अधिक सुन्दर एवं उच्च स्वप्न देखने लगता है। इस स्वप्न की कल्पना के दो रूप होते हैं—एक की आधार भूमि वर्तमान प्रगति से आगे की कल्पना

होती है। इसमें वह परिश्रम द्वारा आगे बढ़ने का प्रयत्न करता रहता है। कल्पना का दूसरा रूप वह होता है जिसमें मानव बिना परिश्रम किए ही सम्पूर्ण सुख प्राप्त कर लेना चाहता है। स्वर्ग की कल्पना इसी का फल है।

उपरोक्त दोनों कल्पनाओं में से पहली कल्पना द्वारा यथार्थ की पृष्ठभूमि पर आदर्श का निर्माण होता है। हमारा यह आदर्श यथार्थ का ही उन्नततम रूप बन जाता है। प्रगतिवादी साहित्य यथार्थवादी कहा जाता है परन्तु उसका मूल उद्देश्य वर्तमान जीवन की विषमताओं का उन्मूलन कर एक ऐसे आदर्श समाज की स्थापना करना है जिसमें मानव-मात्र सुखी रह सके। ऐसे आदर्श का सर्वत्र स्वागत होता है। हमारी दूसरी कल्पना वह होती है जिसमें या तो हम वर्तमान की विभीषिका से त्रस्त होकर सर्व सुख सम्पन्न स्वप्न संसार का निर्माण कर लेते हैं जिसमें बिना परिश्रम किए ही हमें सारे सुख प्राप्त हो जायें। इसी कल्पना का दूसरा रूप वह होता है जिसमें समाज की प्रतिक्रियावादी शक्तियां जनता की प्रगति को रोकने के लिए धर्म आदि का आडम्बर खड़ाकर आदर्शों की सृष्टि करती हैं।

प्रेमचन्द का आदर्शवाद पहले प्रकार का आदर्शवाद है जो यथार्थ की पृष्ठ भूमि पर आधारित है। उनका आदर्श यही था कि संसार से अन्याय, अत्याचार, पाखंड, असमानता आदि का नाश होकर मानव-मात्र सुखी बनें, इसी की पूर्ति के लिए वे अपने प्रारम्भिक उपन्यासों में पहले समाज की यथार्थ विषम स्थिति का चित्रण कर फिर अपनी कल्पनानुसार आश्रमों आदि की स्थापना कर उसका हल ढूंढ़ते रहे। परन्तु उन्हें अपनी किसी भी कल्पना से पूर्ण सन्तोष नहीं मिल सका। इसी-लिए अन्त में जाकर 'गोदान' में उन्होंने अपने पूर्व समाधानों को त्याग कर, समाज का वास्तविक चित्र खींच कर, यह घोषित किया कि हमारी वर्त्तमान सामाजिक व्यवस्था ही मूलतः इस विषमता के लिए उत्तरदायी है। इसलिए इसे पूर्णतः बदलने से ही मानव का कल्याण हो सकेगा। यहीं आकर प्रेमचन्द सच्चे यथार्थवादी बन सके हैं। इसमें

स्पष्टतः आदर्श का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता परन्तु इस उपन्यास की प्रत्येक पंक्ति अलक्षित रूप से हमें उस आदर्श समाज की स्थापना करने के लिए उत्तेजित करती है।

आदर्शवाद के लिए यह आवश्यक नहीं कि उसका चित्रण या उल्लेख स्पष्ट रूप से हो किया जाय। लेखक उसके प्रति संकेत भी कर सकता है। और गोदान में प्रेमचन्द ने यही किया है। कुछ आलोचकों ने आदर्श और यथार्थ को सीमाओं में बाँधकर उन्हें एक दूसरे का विरोधी साबित कर दिया है। इसका कारण यह है कि उनके दृष्टि-कोणों में पर्याप्त संकीर्णता है। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने स्पष्ट लिखा है कि—"कोई कलाकार या तो यथार्थवादी ही हो सकता है या आदर्श-वादी ही! ये दोनों परस्पर विरोधी विचारधारायें और कला-शैलियाँ हैं। इनका मिश्रण किसी एक रचना में सम्भव नहीं।" और यह कह कर वे प्रेमचन्द को आदर्शवादी कलाकार घोषित करते हैं जबकि प्रेम-चन्द स्वयं अपने को 'आदर्शोन्मुख यथार्थवादी' कहते हैं।

प्रेमचन्द साहित्य का अध्ययन करने पर प्रेमचन्द का मत ही अधिक संगत प्रतीत होता है। प्रेमचन्द की पृष्ठ भूमि यथार्थवादी है और उनके निष्कर्ष आदर्शवादी। परन्तु उनका यह आदर्शवाद उन निठल्लों का आदर्शवाद नहीं है जिसमें स्वर्ग की कल्पना की गई है। उनका आदर्श-वाद कर्मठ व्यक्तियों का आदर्शवाद है! यह दूसरी बात है कि उन्होंने अपनी सामयिक परिस्थितियों के प्रभाव से उस आदर्श के प्राप्ति की कल्पना भिन्न-भिन्न कृतियों में भिन्न-भिन्न प्रकार से की। कहीं आश्रम स्थापित हुए, कहीं आदर्श ग्राम बने, कहीं अत्याचारियों का हृदय परि-वर्तन हुआ। लेकिन जैसे-जैसे वे आगे बढ़ते गए उन्हें अपने इन आदर्शों की अपूर्णता का भान होता गया और अन्त में जाकर, जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, उन्होंने यह अनुभव कर लिया कि इन आँशिक परि-वर्तनों या प्रयत्नों से पूर्ण सफलता नहीं मिल सकती। इसके लिए वर्तमान सारी व्यवस्थाओं का पूर्ण उन्मूलन आवश्यक है। और इसके लिए उन्होंने 'गोदान' में वर्तमान सम्पूर्ण समाज-व्यवस्था का कच्चा

चिट्ठा खोलकर हमारे सामने रख दिया और हमारी आँखों में उँगली डालकर कहा कि—देखो, यह है तुम्हारी असली हालत, तुम्हारी समाज व्यवस्था, जिसमें होरी जैसे कर्मठ व्यक्ति को भूखा मर जाना पड़ा। समझदार के लिए इशारा काफी होता है। इसी कारण 'गोदान' समाजवाद का उद्घोष कहा जा सकता है।

प्रेमचन्द के चित्रण में हमारा सम्पूर्ण समाज अपनी सारी अच्छाइयों-बुराइयों के साथ साकार हो उठा है। इसका कारण यह था कि वे समाज को विकसित कर समाजवाद की स्थापना का स्वप्न देखा करते थे। परन्तु इस विकास के लिए वे क्रान्ति को न अपना कर जनमत तैयार कर इसे प्राप्त करना चाहते थे। डा० इन्द्रनाथ मदान को लिखे गए एक पत्र में उन्होंने इसी बात को स्पष्ट करते हुए लिखा था—"हमारा उद्देश्य जनमत तैयार करना है। इसलिए मैं सामाजिक विकास में विश्वास रखता हूं। अच्छे तरीकों के असफल होने पर ही क्रान्ति होती है। मेरा आदर्श है कि प्रत्येक को समान अवसर का प्राप्त होना। इस सोपान तक बिना विकास के कैसे पहुँचा जा सकता है। इसका निर्णय लोगों के आचरण पर निर्भर है। जब तक हम व्यक्तिगत रूप से उन्नत नहीं हैं तब तक कोई सामाजिक व्यवस्था आगे नहीं बढ़ सकती।" अपने इसी सिद्धान्त एवं आदर्श की पूर्ति के लिए उन्होंने हमारे सामने हमारी वास्तविक दशा का चित्रण कर हमें संगठित एवं उन्नत होने के लिए प्रेरित किया। उनके सभी चैतन्य पात्र हमें यह सन्देश देते हैं कि अन्याय, अत्याचार का डटकर विरोध करो, तभी मानव सुखी बन सकेगा।

प्रेमचन्द का यही आदर्शोन्मुख यथार्थवाद है। हमें प्रेमचन्द को समझने के लिए आदर्शवाद और यथार्थ की रूढ़िगत संकीर्ण परिभाषाओं को विस्तार देना पड़ेगा। यदि हम शास्त्रीय दृष्टिकोण तक ही सीमित होकर उन्हें देखने का प्रयत्न करेंगे तो प्रेमचन्द न तो आदर्शवादी ही ठहरेंगे और न यथार्थवादी। उनमें दोनों का समन्वय है, हमें इस बात को नहीं भूल जाना चाहिए।

प्रश्न ४ -क्या आप प्रेमचन्द को हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास-कार मानते हैं। तर्क पूर्ण विवेचन कीजिये।

उत्तर—हिन्दी में उपन्यासों का लिखा जाना वैसे तो भारतेन्दु-युग से ही प्रारम्भ हो गया था परन्तु उपन्यास-कला की दृष्टि से उनका कोई मूल्य नहीं था। चरित्र चित्रण, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण आदि का उनमें अभाव था। हिन्दी के वास्तविक उपन्यासों का प्रारम्भ वास्तव में भारतेन्दु-युग के उपरान्त ही हुआ। आचार्य-शुक्ल के शब्दों में—"पहले मौलिक उपन्यास लेखक जिनके उपन्यासों की सर्व साधारण में धूम हुई, काशी के बाबू देवकीनन्दन खत्री थे।" इन्होंने हिन्दी उपन्यासों को लोकप्रिय बनाने में ऐतिहासिक कार्य किया था। परन्तु शुक्ल जी इन्हें साहित्य कोटि में नहीं मानते क्योंकि इनमें जीवन के विविध पक्षों का चित्रण नहीं है। रस, चरित्र-चित्रण, भाव-विभूति आदि का इनमें भी अभाव रहा। इन उपन्यासों का सबसे बड़ा ऐतिहासिक मूल्य यह है कि इनमें हिन्दी के उस सरल, सुबोध एवं जनप्रिय रूप को अपनाया गया जिसने आगे चलकर प्रेमचन्द-साहित्य में पूर्ण विकास पाया। इनका दूसरा महत्व इस बात में है कि इन उपन्यासों ने हिन्दी के जितने नवीन पाठक एवं लेखक उत्पन्न किए उतने और किसी ने भी नहीं किए। यह सब होते हुए भी जन-जीवन के यथार्थ चित्रण से ये प्रायः शून्य ही रहे। किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों में भी यही कमियाँ रहीं।

इस प्रकार इस काल में उपन्यास-कला का प्रारम्भ तो हो गया। परन्तु उसमें गम्भीरता नहीं आ पाई। इन उपन्यासों में जीवन की समस्यायें नहीं थीं, उनके समाधान नहीं थे, उपदेश और नीति के प्रचार में कला नहीं थी और न जीवन के गम्भीर पक्षों का ही कोई चित्रण था। इसलिए इन्हें हम हिन्दी-उपन्यासों की पूर्व-पीठिका मात्र मान सकते हैं।

इस काल तक हिन्दी उपन्यास अपना कोई निश्चित मार्ग नहीं निर्धारित कर पाया था। इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कहा जा

सकता है कि इस काल के उपन्यासकार अचेतन रूप से भिन्न-भिन्न प्रयोग करने में व्यस्त थे। इसी बात को पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने स्पष्ट करते हुए लिखा है कि—"अनेक वर्षों तक हिन्दी-उपन्यास का स्वरूप स्पष्ट न हो सका। लेखकों के सामने कोई निश्चित लक्ष्य न था, उपन्यास की कोई निर्धारित प्रणाली या रूपरेखा न थी। अनेक प्रकार के प्रयोग हो रहे थे। सभी लेखक अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार उपन्यास-रचना कर रहे थे। यह स्वाभाविक भी था; क्योंकि हिन्दी के उपन्यास-लेखन की कोई पूर्व परम्परा न थी।.....इस नव-निर्माण के बीच कभी कोई उपन्यासकार किसी पौराणिक या सामाजिक कथानक का आधार लेकर कोई उपदेशात्मक कृति प्रस्तुत कर देता था और कभी कोई भावुकतापूर्ण रचना सामने आ जाती थी; परन्तु सामाजिक प्रगति और जीवन की वास्तविकता में पैठकर उसके यथार्थ और प्रभावशाली चित्र हमारे प्रारम्भिक उपन्यासकार अधिक मात्रा में नहीं दे सके। तब तक रीति के साहित्यिक संस्कार बने हुए थे और नवीन सामाजिक चेतना का उदय नहीं हुआ था।"

हिन्दी उपन्यास का स्वरूप प्रेमचन्द के इस क्षेत्र में आने के बाद से ही बदल गया। वह प्रेमकथा, तिलिस्मी, जासूसी चमत्कारों, घटना वैचित्र्य तथा धार्मिक और उपदेशात्मक क्षेत्रों को छोड़कर समाज के साथ आ मिला। मानव-जीवन दर्शन उसका लक्ष्य बना। भाषा, कला तथा विधान के क्षेत्रों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। यथार्थ के चित्रण द्वारा जीवन-संघर्ष और चेतन-जगत का मनोरम चित्रण हुआ। प्रेमचन्द इस नवीन युग के अग्रदूत के रूप में अवतीर्ण हुए। उनके उपन्यासों में राजनीतिक और सामाजिक युग साकार हो उठा। उनमें आकर उपन्यास की क्षीण एवं लक्ष्यहीन धारायें मिलकर एक विशाल नद के समान प्रवाहित हो उठीं। प्रेमचन्द के उपन्यासों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे मनोरंजन के साधन भी हैं और सत्य के वाहक भी। उनसे पूर्व के उपन्यास केवल मनोरंजन के साधन थे। उनमें सत्य के स्थान पर कल्पना का कौतूहल पूर्ण चित्रण ही रहता था। प्रेमचन्द

के उपन्यासों में कथावस्तु, कथोपकथन, चरित्र-चित्रण, भाषा-शैली आदि के प्रौढ़तम रूप के दर्शन हुए। इसी कारण हिन्दी-संसार ने उन्हें एक स्वर से उपन्यास-सम्राट की उपाधि से विभूषित किया। उन्होंने द्विवेदी-युग में लिखना प्रारम्भ किया, छायावादी युग में उनकी कला ने पूर्ण विकास पाया और बाद में प्रगतिशील विचारधारा के साथ वे आगे बढ़े। इसका मुख्य कारण था, तत्कालीन भारतीय जीवन की असाधारण गतिशीलता एवं प्रेमचन्द का इस जीवन से घनिष्ठ परिचय और उनकी अनन्य प्रतिभा।

प्रेमचन्द की इस सफलता का रहस्य उनके साहित्य विषयक दृष्टिकोण में निहित है। वे साहित्य का उद्देश्य केवल मनोरंजन ही न मानकर उपयोगिता भी मानते हैं। इसके लिए समाज के वास्तविक चित्रण की आवश्यकता होती है। और ऐसा चित्रण अनुभवों के आधार पर ही किया जा सकता है। प्रेमचन्द ने स्वयं लिखा है—"कल्पना के गढ़े हुए आदमियों में हमारा विश्वास नहीं है। उनके कार्यों और विचारों से हम प्रभावित नहीं होते। हमें इसका निश्चय हो जाना चाहिए कि लेखक ने जो सृष्टि की है वह प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर की है, या अपने पात्रों की जबान से वह खुद बोल रहा है।" इसी दृष्टिकोण के कारण प्रेमचन्द अपने उपन्यासों में यथार्थवाद का समावेश कर उन्हें जन-जीवन का सच्चा चित्र बनाने में सफल हो सके थे। इसी विशेषता को लक्ष्य कर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने प्रेमचन्द को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कहा है कि—"अगर उत्तर-भारत की समस्त जनता के आचार-विचार, भाव-भाषा, रहन-सहन, आशा-आकांक्षा, दुख-सुख और सूझ-बूझ को जानना चाहते हैं तो मैं आपको निःसंशय बता सकता हूँ कि प्रेमचन्द से उत्तम परिचायक आपको नहीं मिल सकता।" और इसी कारण द्विवेदीजी ने उन्हें अपने समय का उत्तरी भारत का सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार घोषित किया है।

उपरोक्त विवेचन से हिन्दी उपन्यास-साहित्य में प्रेमचन्द का सर्वाधिक महत्व स्पष्ट हो जाता है। अब प्रश्न यह उठता है कि उन्हें हिन्दी का

प्रथम मौलिक उपन्यासकार माना जाय या नहीं ? किसी व्यक्ति का महत्व ही तो केवल उसे प्रथम मौलिक कलाकार की कोटि में नहीं बैठा सकता। ऐसा करने से उसके पूर्ववर्ती कलाकारों का महत्व दब जाता है। प्रेमचन्द से पूर्व भी अनेक मौलिक उपन्यासकार हो चुके थे जिनमें कम से कम देवकीनन्दन खत्री का महत्व एवं प्रचार तो आज भी काफी है। आचार्य शुक्ल खत्री जी और गोस्वामी जी को प्रथम एवं द्वितीय मौलिक उपन्यासकार मान चुके हैं। फिर प्रेमचन्द को यह स्थान कैसे प्रदान किया जा सकता है ? इसके विवेचन के लिए पहले यह आवश्यक है कि हम 'मौलिक' शब्द के अर्थ को समझ लें।

'मौलिक' शब्द का साधारण अर्थ यह है कि उस रचना को 'मौलिक' माना जाता है जो किसी अन्य रचना का अनुवाद अथवा छायानुवाद न हो। उसकी रचना रचयिता की अपनी ही कल्पना-शक्ति द्वारा हुई हो। इस दृष्टि से प्रेमचन्द के अनेक पूर्ववर्ती उपन्यासकार मौलिक उपन्यासकार माने जा सकते हैं क्योंकि उनकी रचनायें अनुवाद या छायानुवाद न होकर उनकी अपनी कल्पना शक्ति की ही उपज है। 'मौलिक' का दूसरा एवं अधिक विस्तृत अर्थ यह माना जा सकता है कि लेखक की रचना पर अन्य किन्हीं भी रचनाओं का प्रभाव न हो। वस्तु, शैली आदि की दृष्टि से वह सर्वथा नवीन हो और बाद में भी उसका अनुकरण किया जाय। साथ ही लेखक की जीवन दृष्टि भी सर्वथा नवीन हो। इस दृष्टि से देखने पर प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती उपन्यासकार मौलिक नहीं माने जा सकते। खत्री जी पर फारसी के तिलिस्मी कथा-साहित्य का प्रभाव है। गोस्वामी जी रीतिकालीन तथा उर्दू की प्रेम कथाओं से प्रभावित हैं। गहमरी जी ने अंग्रेजी जासूसी कहानियों को हिन्दी के रूप में ढाल दिया था। अन्य लेखकों पर बंगला के भावुकतापूर्ण उपन्यासों की छाया है।

इस प्रकार उपरोक्त कथाकारों में से कोई भी सर्वथा स्वतंत्र दृष्टिकोण एवं सृजन शैली को लेकर नहीं चल सका है। उनका आदर्श पूर्ववर्ती देशी अथवा विदेशी साहित्य रहा है। उनकी चीजें पाठकों का

निर्बलता आने की सम्भावना नहीं रहती। आलोचकों ने इस अकलात्मक अंत की ओर कदाचित ध्यान देना ही उचित नहीं समझा है।

पं० नन्ददुलारे वाजपेयी 'ग़बन' को पूर्णरूपेण सुग्रथित उपन्यास मानने में संकोच करते हैं। आप उत्तरार्द्ध वाली कथा को सम्पूर्ण उपन्यास की कथावस्तु की एकात्मता की रक्षा के लिए अनावश्यक मानते हैं। आपका मत है कि पूर्वार्द्ध की कथा छोटी है और उसे वहीं समाप्त कर देने पर उपन्यास बहुत छोटा रह जाता। इसलिए कलकत्ते वाली कथा उपन्यास को केवल विस्तार देने के लिए गढ़ी गई है। और उस कथा को जोड़कर प्रेमचन्द ने सामाजिक और राजनीतिक कथाओं को मिला दिया है जिससे उद्देश्य और प्रभाव की दृष्टि से कथा की एकात्मता की रक्षा नहीं हो सकी है। यदि यह कथा प्रयाग तक ही सीमित रहती तो उसमें रचना संबंधी पूर्णता आ जाती और उसका प्रभाव भी अधिक तीव्र होता। ऐसा करने से मध्यवर्ग की सामाजिक और आर्थिक समस्याओं पर तीखा प्रकाश पड़ता। यदि पूरी कथा कलकत्ते वाली घटना से ही सम्बद्ध रहती तो वह पूर्णतः राजनीतिक उपन्यास बन जाता।

उपरोक्त विवेचन कर वाजपेयी की इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि—"वैसी स्थिति में एक उपन्यास के बदले दो उपन्यास बन सकते सकते थे—एक मध्यवर्गीय पारिवारिक चित्रण के आधार पर और दूसरा पुलिस के हथकण्डों और न्याय की विडम्बनाओं के आधार पर। परन्तु इन दोनों को एक में मिलाकर प्रेमचन्द जी ने दोनों के प्रभाव को घटा दिया है।" परन्तु ऐसा होने पर भी वाजपेयी जी इस बात को स्वीकार करने में संकोच नहीं करते कि—"किन्तु एक मंजे हुए कलाकार के अनुरूप चमत्कारपूर्ण घटनाओं की योजना द्वारा ये दोनों कथा सूत्र प्रेमचन्द जी ने जोड़ रखे हैं। कहानी के प्रवाह में कोई बड़ी बाधा नहीं उपस्थित होती, परन्तु जैसा कहा जा चुका है; उपन्यास के संकलन और प्रभाव की एकाग्रता में त्रुटि अवश्य आ गई है।"

वाजपेयी जी 'ग़बन' के कथानक को प्रयाग तक ही सीमित रखने

के पक्ष में है। परन्तु यदि यह कथा प्रयाग तक ही सीमित रहती तो एक साधारण उपदेशमूलक कथा मात्र बन कर रह जाती। प्रेमचन्द जितने सामाजिक स्थिति के प्रति जागरूक थे उससे कहीं अधिक राजनीतिक स्थिति के प्रति चैतन्य थे। मध्य वर्ग की सामाजिक दीनता के साथ ही साथ उस वर्ग की राजनीतिक जाग्रति का चित्रण करके ही इस समाज का वास्तविक चित्र उपस्थित किया जा सकता था। जिस समय यह उपन्यास लिखा गया था उससे पूर्व ही सरदार भगतसिंह आदि को फाँसी दी जा चुकी थी। सरकार द्वारा चलाये गए इस दमन चक्र में भारत की निष्क्रिय एवं बेईमान पुलिस ने अनेक निर्दोष परन्तु देशभक्त नवयुवकों को बेकसूर फंसा कर उनके जीवन को बर्वाद कर दिया था। देश में फैले हुए इस क्षोभ का चित्रण करने का लोभ संवरण करना प्रेमचंद के लिए असम्भव था। उन्हें दिनेश जैसे देशभक्त नवयुवकों एवं उनके पीड़ित परिवारों के प्रति स्वाभाविक सहानुभूति थी। इसलिए उत्तरार्द्ध वाली कथा द्वारा उन्होंने अपने इसी उद्देश्य की सिद्धि की।

उस समय स्वदेशी आन्दोलन भी अपनी चरम सीमा पर था। देवीदीन खटीक और उसके पुत्रों के बलिदान की कथा का समावेश कर उन्होंने इसी समस्या पर प्रकाश डाला और साथ ही विदेशी सरकार से बारबार समझौता कर झुक जाने वाले मध्यवर्गीय नेतृत्व की असलियत को भी देवीदीन के माध्यम से खोल कर रख दिया। उपरोक्त तीनों ही समस्यायें तत्कालीन राजनीति की प्रमुख समस्यायें थीं—क्रांतिकारी आन्दोलन के प्रति जनता की सहानुभूति, स्वदेशी आन्दोलन एवं मध्यवर्गीय नेतृत्व के प्रति सहज सशंकित साधारण जनता। चौथी बात पुलिस के अत्याचारों एवं हथकण्डों का पर्दाफाश तथा विदेशी सरकार द्वारा संचालित न्याय विभाग की अकर्मण्यता। उत्तरार्द्ध की कथा इतने महत्वपूर्ण प्रसंगों पर प्रकाश डालती है।

परन्तु उसका उद्देश्य यहीं तक सीमित नहीं है। अगर कलकत्ते की घटनायें न घटतीं तो न हमें जालपा का परिवर्तित रूप दिखाई पड़ता और

न रमानाथ की चरित्रगत दुर्बलताओं को विस्तार मिलता। इसके अतिरिक्त जो सबसे बड़ी हानि होती वह यह कि हिन्दी संसार देवीदीन खटीक जैसे निम्न वर्गीय जागरूक पात्र से बंचित रह जाता। देवीदीन की राजनीतिक चेतना रंगभूमि के सूरदास से भी अधिक जागरूक है। जब उत्तरार्द्ध की कथा इतने महान उद्देश्यों की पूर्ति करती है तो उसे अनावश्यक कैसे माना जाय। क्या उसके अभाव में 'ग़बन' नारी के आभूषण प्रेम की छोटी सी कहानी मात्र बन कर न रह जाता। नारी का संसार केवल आभूषण-प्रेम तक ही तो सीमित नहीं है। जब भारत में जालपा जैसी नारियां अधिक संख्या में आगे बढ़ने लगेंगी तो नारी समाज अपने अकर्मण्यता के दोष से मुक्त हो जायेगा। इसी कारण प्रेमचन्द ने जालपा के रूप में भारत के उगते हुए नारीत्व को दिखाने का प्रयत्न किया है। यहाँ तक तो हमने यह देखा कि उत्तरार्द्ध वाली तथाकथित अनावश्यक कथा का समावेश कर प्रेमचन्द ने कितने महान् उद्देश्यों की सृष्टि की है। अब प्रश्न यह उठता है कि जहाँ प्रेमचन्द ने दोनों कथाओं को जोड़ा है वहाँ स्वाभाविकता है या नहीं।

रमा के प्रयाग से भाग कर कलकत्ता पहुँचने तक की कथा पूरी तरह सुग्रथित है। वहाँ से कथा दूसरा मोड़ लेती है जिसमें राजनीति की प्रधानता है और ऐसा होने पर प्रयाग वाली कथा से उसका संबंध शिथिल सा प्रतीत होने लगता है। देवीदीन के दोनों पुत्रों के बलिदान की कथा यद्यपि बड़े कौशल से जोड़ी गई है परन्तु फिर भी मूलकथा से उसका तारतम्य नहीं बैठ पाता। अन्त में रमा के पुलिस के चंगुल में फँसने, मुखबिर बनने और जालपा के कलकत्ते पहुँचने पर कथा का उपरोक्त शिथिल सूत्र पुनः सशक्त हो उठता है। कलकत्ते में रतन और उसके पति के आने की कथा का मूलकथा से कोई सम्बन्ध नहीं बैठ पाता। परन्तु जालपा के आते ही कथा अपनी प्रयाग वाली गति से आगे बढ़ने लगती है। रमा और जालपा पुनः प्रमुख हो उठते हैं। कलकत्ते वाली कथा यदि रमा और जालपा के सुखद पुनर्मिलन को दिखाकर ही समाप्त कर दी जाती तो कदाचित वह उपन्यास का अधिक कला-

त्मक अन्त होता। परंतु प्रेमचन्द कथा को कलकत्ते से उठाकर पुनः प्रयाग ले आते हैं और अपने पूर्वादर्शों के समान एक आदर्श आश्रम की स्थापना कर उसे रतन और जोहरा की मृत्यु के साथ समाप्त कर देते हैं। कदाचित प्रयाग लौटाने में उनका यह दिखाने का उद्देश्य रहा हो कि निर्बल से निर्बल चरित्र वाले मनुष्य में भी अच्छाइयाँ होती हैं और रमा उन्हीं के अनुसार एक समाज सेवक बन जाता है। जो कुछ भी हो परंतु उपन्यास का यह अंत प्रभावित नहीं कर पाता।

'ग़बन' के कथानक में अन्य भी कई छोटी-छोटी खामियाँ हैं। रतन और उसके पति की कथा एक प्रकार से अनावश्यक है। रतन और उसके पति के चरित्रों में भी कोई विकास नहीं मिलता। इस दृष्टि से भी वह कथा व्यर्थ है। इस अंगांगी कथा का केवल एक ही महत्व प्रतीत होता है और वह यह कि नारी का सम्मिलित परिवार में रहते हुए अपने पति की सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं रहता इसलिए पति के मरने पर उसकी बड़ी दुर्दशा होती है। दूसरी कथा देवीदीन के पुत्रों की है। तीसरी कथा में देवीदीन द्वारा इस बात पर प्रकाश डाला गया है कि जनता किस प्रकार का स्वराज्य चाहती है। "जनता यह नहीं चाहती कि केवल उसके प्रभुओं के चमड़े के रंग में तब्दीली हो जाय, बल्कि वह चाहती है कि शक्ति उसके हाथ में आये।" रतन की कथा को छोड़कर उपरोक्त अन्य दोनों कथाओं का अलग-अलग अपना महत्व और सौंदर्य है परंतु उनसे मूलकथा की गति में व्याघात पड़ता है।

उपरोक्त उपकथाओं के समान ही जोहरा की कथा भी शिथिल है। जोहरा वेश्या है। प्रेम के द्वारा उसका सुधार किया गया है। परंतु उसका चरित्र याँत्रिक है। उसमें स्वाभाविक विकास नहीं मिलता। इसी कारण प्रेमचंद उपन्यास का अंत करते समय इस दुविधा में पड़ गए हैं कि उसका क्या किया जाय। और कोई चारा न देखकर उसको डुबवा कर समाप्त कर देते हैं। ऐसा क्यों किया गया यह समझ में नहीं आता। संक्षेप में यही 'ग़बन' के कथानक की खामियाँ है।

यह सब कुछ होते हुए भी कथा प्रवाह में कहीं भी शिथिलता नहीं

थी कि भगवान ने औरों को पहले उठा न लिया होता, तो इस समय उन्हें भी भेज देता।'' आदि। देवीदीन का उत्कट देशप्रेम इन शब्दों से छलका पड़ता है। देशप्रेम का इतना उज्वल रूप विरले ही लोगों में मिलता है। पुत्रों के बलिदान के उपरान्त उसने जीवन पर्यन्त स्वदेशी के प्रेम को निभाया।

देवीदीन किसानों और मजदूरों की हालत से अच्छी तरह परिचित है। वह देश के भावी राज्य की रूपरेखा की कल्पना करता हुआ इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि भावी राज्य किसान-मजदूर का ही होगा। वह सफेदपोश नेताओं एवं देशभक्तों की असलियत का सच्चा पारखी है। वह जानता है कि हिन्दुस्तान को आजाद किसान और मजदूरों के बेटे ही करेंगे। इन सफेदपोशों के बस से यह बात परे है। इन सफेदपोश नेताओं के सम्बन्ध में उसके उद्‌गार मनन करने योग्य हैं जो भारत की आजादी के बाद शत प्रतिशत सच्चे प्रमाणित हुए हैं। वह कहता है—

"इन बड़े-बड़े आदमियों के किए कुछ न होगा। इन्हें बस रोना आता है। छोकरियों की भाँति बिसूरने के सिवाय इनसे और कुछ नहीं हो सकता। बड़े-बड़े देशभक्तों को बिना विलायती शराब के चैन नहीं आता। उनके घर में जाकर देखो एक भी देशी चीज न मिलेगी।··· सबके सब भोगविलास में अन्धे हो रहे हैं। उस पर दावा यह है कि देश का उद्धार करेंगे। अरे, तुम देश का क्या उद्धार करोगे। पहले अपना उद्धार कर लो।···हाँ, रोये जाओ, विलायती शराबें उड़ाओ, विलायती मोटरें दौड़ाओ, विलायती मुरब्बे और अचार चखो, विलायती दवाइयाँ पीओ, पर देश के नाम को रोये जावो।"

सफेदपोश देशभक्तों की उपरोक्त असलियत का पर्दाफाश करने के उपरान्त वह उस स्थिति का खाका खींचता है जब भारत आजाद हो जायेगा और उस आजाद भारत में ये सफेदपोश नेतागण क्या क्या हरकतें करेंगे—

"एक बार यहाँ बड़ा भारी जलसा हुआ। एक साहब बहादुर खड़े होकर खूब उछले कूदे। जब वह नीचे आये तब मैंने उनसे पूछा—

"साहब सच बताओ, जब तुम सुराज का नाम लेते हो उसका कौनसा रूप तुम्हारी आँखों के सामने आता है ? तुम भी अँग्रेजों की तरह बड़ी-बड़ी तलब लोगे ? तुम भी अँग्रेजों की तरह बँगलों में रहोगे, पहाड़ों की हवा खाओगे, अँग्रेजी ठाठ बनाये घूमोगे। इस सुराज से देश का क्या कल्याण होगा ? तुम्हारी और तुम्हारे भाई बन्दों की जिन्दगी भले ही आराम और ठाट से गुजरे पर देश को तो कोई फायदा न होगा। तुम दिन में पांच बार खाना चाहते हो, और वह भी बढ़िया माल। गरीब किसान को एक जून सूखा चबैना भी नहीं मिलता। उसी का रक्त चूसकर तो सरकार तुम्हें हुद्दे देती है। तुम्हारा ध्यान कभी उनकी ओर जाता है ? अभी तुम्हारा राज्य नहीं है, तब तो तुम भोग विलास पर इतना मरते हो, जब तुम्हारा राज्य हो जायेगा; तब तो तुम गरीबों को पीस कर ही पी जाओगे।"

देवीदीन जैसा अपढ़ व्यक्ति भी आर्थिक समस्या को कितनी गहरी दृष्टि से देखता है इसका प्रमाण उसके उस वाक्य से मिलता है जो वह भारत के आजाद होने पर देश के कर्णधारों से कहना चाहता है—"मेरा पहला सवाल यह होगा कि विलायती चीजों पर दुगुना महसूल लगाया जाय और मोटरों पर चौगुना।"

एक दिन रमा किसी सेठ के यहाँ बँटने वाले खैराती कम्बलों में से एक कम्बल दान में ले आया। बातचीत के दौरान में रमा ने उस सेठ की बड़ी तारीफ की कि वह बड़ा धर्मात्मा है। इस पर देवीदीन हँस पड़ा और उस सेठ की कलई इन शब्दों में खोलने लगा—"उसकी जूट की मिल है। मजदूरों के साथ जितनी निर्दयता इसके मिल में होती है और कहीं नहीं होती। आदमियों को हन्टरों से पिटवाता है, हन्टरों से। चर्बी मिला घी बेच कर इसने लाखों कमा लिया, कोई नौकर एक मिनट की भी देर करे तो तुरन्त तलब काट लेता है। अगर साल में दो चार हजार दान न कर दे तो पाप का धन कैसे पचे।"

इस प्रकार देवीदीन सफेदपोश नेताओं, धर्म के ठेकेदार बड़े बड़े सेठों आदि की असलियत से पूरी तरह से परिचित एक जागरूक पात्र

है। असलियत तो यह है कि इस उपन्यास में देवीदीन के मुँह से स्वयं प्रेमचन्द बोल रहे हैं। इसीलिए देवीदीन खटीक इतना प्रभावित करता है। पाठकों की सहानुभूति सबसे अधिक इसी व्यक्ति के प्रति रहती है। आज से सत्ताईस वर्ष पहले प्रेमचन्द ने देवीदीन के मुँह से जो भविष्यवाणियाँ कराई थीं वे आज भारत के स्वतन्त्र हो जाने के दस वर्ष उपरान्त भी अक्षरशः सत्य प्रमाणित हो रही हैं। एक समय जनता जिस कांग्रेस और उसके नेताओं के पीछे जान की बाजी लगा देती थी आज उसी से घृणा करने लगी है। आजादी तो केवल नेताओं को मिली है। साधारण जनता अभी तक उससे महरूम है। मँहगाई पहले से भी ज्यादा बढ़ गई है। जनता पर करों का बोझ दिन प्रतिदिन बढ़ता चला जा रहा है। अफसरों और पुलिस के रवैये में कोई अन्तर नहीं आया है। अन्तर सिर्फ इतना ही हुआ है कि उनकी चमड़ी का रंग बदल गया है। शासक, जो पहले नेता थे, हजारों रुपयों का वेतन लेते हैं, आलीशान कोठियों में रहते हैं, विदेशी मोटरों और हवाई जहाजों में दौरा करते हैं। पद प्राप्त करने के लिए उनमें परस्पर अत्यन्त घृणित हथकन्डे एवं षडयंत्र चलते रहते हैं। अभी केरल में बनी साम्यवादी सरकार के क्रान्तिकारी कदमों ने उनकी नींद हराम कर रखी है। संक्षेप में आजादी केवल कांग्रेस और उनके नेताओं के लिए ही कामधेनु का रूप धारण कर अवतरित हुई है।

दूसरी तरफ व्यापार के क्षेत्र में विदेशी पूँजीपतियों का प्रभुत्व है। व्यापार के नाम पर प्रतिवर्ष असंख्य धनराशि विदेश चली जा रही है। जनता के इस शोषण में देशी पूँजीपति भी उनसे पीछे नहीं हैं। स्वदेशी माल किस्म का घटिया और तेज मिलता है। देशी पूँजीपति अपने पाप का प्रक्षालन 'ग़बन' के सेठ करोड़ीमल की भाँति मन्दिर बनवाकर और दान के रूप में कुछ टुकड़े फेंक कर अभी तक उसी पुराने रूप में करते चले आ रहे हैं। विभिन्न योजनाओं में करोड़ों रुपयों का ग़बन और बरबादी हो रही है। और जब इस स्थिति के खिलाफ जनता आवाज उठाती है तो उसे देश के नाम पर शक्ति का

प्रयोग कर कुचल दिया जाता है। किसान मजदूरों की स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ है। इस तरह देवीदीन की उपरोक्त भविष्यवाणी अक्षरशः सत्य प्रमाणित हो रही है।

हम ऊपर कह आए हैं कि देवीदीन के रूप में, इस उपन्यास में स्वयं प्रेमचन्द बोल रहे हैं। देवीदीन जैसे एक साधारण बुद्धिवाले व्यक्ति के लिए इतनी दूरदर्शिता सम्भव नहीं प्रतीत होती। प्रेमचन्द के ये विचार नवीन नहीं हैं। 'प्रेमाश्रम' से लेकर 'गोदान' तक एक न एक पात्र प्रत्येक उपन्यास में ऐसा मिल जाता है जो देवीदीन के से ही विचार व्यक्त करता है।

यह सब होते हुए भी देवीदीन का चरित्र बड़ा विचित्र है। वह देशभक्त है, स्वदेशी का उपासक है, पीड़ित जनों का सहायक है परन्तु स्वयं कुछ भी काम नहीं करता। उसे नशे-पत्ते का शौक है। दिन भर बैठा रहता है या इधर उधर मटरगश्ती किया करता है। अपनी बुढ़िया पत्नी जग्गो की कमाई पर उसकी गुजर-बसर होती है; काम करते समय वह साधनों की चिन्ता नहीं करता। रमा के पुलिस द्वारा पकड़े जाने पर देवीदीन पुलिस के दारोगा को रिश्वत देकर उसे छुड़ाने का प्रयत्न करता है। यह उसका एक साधारण मानव का रूप है। संकट ग्रस्त रमा को वह खर्च की परवाह न कर अपने घर ले आता है और बेटे की तरह रखता है। परन्तु जब वही रमा सरकारी गवाह बन जाता है तो देशभक्त देवीदीन के क्षोभ की सीमा नहीं रहती। वह जग्गो से बातें करता हुआ रमा को मतलबी और धोखेबाज कहता है और अन्त में यहाँ तक कह बैठता है कि—"अपने मतलब के लिए जो दूसरों का गला काटे उसको जहर दे देना भी पाप नहीं है।" वही देवीदीन जब जालपा के आने का समाचार सुनता है तो उसे अपने घर में बहू की तरह लाकर रखता है और उसकी सब तरह से सहायता करता है। वही फाँसी की सजा पाये हुए दिनेश के घर का पता लगा कर जालपा को वहाँ ले जाता है और भरसक उस परिवार को मदद पहुँचाता है। ऐसा करने में वह किसी से भी भयभीत नहीं होता।

देवीदीन सच्चा देश भक्त और मिज़ाज का खरा आदमी है। वह रमा के गिरफ्तार होने की बात सुनकर दारोगा से मिलता है और रिश्वत की रकम तय कर रुपये लेने घर जाता है। रुपए लेकर लौटने पर उसे पता चलता है कि दारोगा रमा को बड़े साहब के यहाँ लें गया है। दारोगा लौटकर जब देवीदीन को यह सूचना देता है कि रमा अब नहीं छूट सकेगा तो—प्रेमचन्द के शब्दों में—देवीदीन ने दरोगा की बात सुनी, तो उसकी भौंहें तिरछी हो गईं। बोला—"दारोगा जी, मरदों की एक बात होती है, मैं तो यही जानता हूँ। मैं रुपये आपके हुक्म से लाया हूँ। आपको अपना कौल पूरा करना पड़ेगा। कहके मुकर जाना नीचों का काम है।" भारतीय पुलिस के एक दारोगा से देवीदीन जैसा साधारण स्थिति का आदमी इतनी कड़ी बात कह जाय, इसके लिए बहुत बड़ा कलेजा चाहिए। यह साहस देवीदीन जैसे मुँहफट व्यक्ति के लिए ही सम्भव है। दारोगा और रमा के यह समझाने पर कि इस मुकदमे में बेगुनाह नहीं फसेंगे, देवीदीन जबाब देता है—

"यह सब भुगते बैठा हूँ, दरोगा जी। इससे तो यही अच्छा है कि आप इनका चालान कर दें। साल दो साल का जेहल ही तो होगा। एक अधरम के डंड से बचने के लिए बेगुनाहों का खून तो सिर पर न चढ़ेगा।"

रमा के इस विश्वासघात से देवीदीन को बड़ी मार्मिक वेदना होती है। वह अत्यन्त कातर होकर जग्गो से कहता है—"भैया अब नहीं आवेंगे। जब अपने ही अपने न हुए तो बेगाने तो बेगाने ही हैं।" परन्तु फिर भी देवीदीन जालपा की पूरी सहायता करता है। किसी काम में पीछे नहीं हटता। समय-समय पर उसे पुलिस के हथकण्डों से सचेत करता रहता है। जब जालपा यह कहती है कि चलकर वही जज साहब को सारा कच्चा चिट्ठा सुना आवे तो देवीदीन उसे यह आशंका बता कर रोक देता है कि ऐसा करने पर पुलिस जालपा को ही गिरफ्तार कर उसकी दुर्गति कर सकती है। रमा के पीछे देवीदीन के घर की

तलाशी होती है। उसे पुलिस की घुड़कियाँ सुननी पड़ती हैं परन्तु वह वीर पुरुष जालपा की सहायता करने से हाथ नहीं खींचता।

देवीदीन मजाक-पसन्द, दिल से हमेशा जवान और मौत से न डरने वाला व्यक्ति है। उसने जीवन को गहराई से देखा है। स्वदेशी आँदोलन में अपने दोनों बेटों का बलिदान चढ़ाकर उसने खुद भी खुल कर कार्य किया है। वह सफेदपोश नेताओं, मक्कार सेठों तथा पुलिस के हथकन्डों से पूरी तरह परिचित है। "वह दिल खोलकर हँसता है और जिन्दगी की असंगतियों को अपनी पैनी निगाह से देखकर वह हँसी की थोड़ी सी सामग्री भी हाथ से नहीं जाने देता।" रमा जब देवीदीन के घर जालपा से मिलने आता है तो उसे जीने पर ही रोककर मजाक करता है—"चलो, अब सरकार में तुम्हारी पेशी होगी। बहुत भागे थे। बिना वारन्ट के पकड़ गए। इतनी आसानी से पुलिस भी न पकड़ सकती।" इतने संकट में फँसे हुए भी इस तरह मजाक करने का साहस एवं हृदय विरले ही वीरों में पाया जाता है। देवीदीन के चरित्र को इन्हीं विशेषताओं से प्रभावित होकर डा० राम विलास शर्मा लिखते हैं—

"प्रेमचन्द ने देवीदीन की इच्छा एक विरासत की तरह हिन्दुस्तान की नई पीढ़ी के लिए छोड़ दी है। (इच्छा यह कि विलायती चीजों पर दुगुना महसूल लगाया जाय और मोटरों पर चौगुना—लेखक ; वह प्रेमचन्द की ही विरासत है जो उन्होंने अपने पीछे आने वालों के लिए छोड़ी है। जिस देश में जालपा जैसी नारी हो, देवीदीन जैसा सदा जवान रहने वाला सच्चा देशभक्त हो, वहाँ गरीबों को लूटकर विलायत का घर भरने का काम ज्यादा दिन तक नहीं चल सकता।"

देवीदीन के इतने सशक्त चरित्र के प्रति भी पं० नन्ददुलारे वाजपेयी न्याय नहीं कर सके हैं। सम्भवतः वे देवीदीन के उग्र विचारों से सहमत नहीं हैं। इसी कारण उसके चरित्र को विचित्र समझते हैं। देवीदीन के स्वल्पशिक्षित और साधारण स्थिति का व्यक्ति होते हुए भी अपने दोनों पुत्रों को राष्ट्रीय सेवा के कार्य में लगा देना उन्हें विचित्र लगता

है। सीमा के बाहर उत्साह और असीम अकर्मण्यता भी उन्हें अद्भुत लगती है। इन्हीं विचित्रताओं के कारण वे उसे अनोखा चरित्र मानते हैं। परन्तु उसका यही अनोखापन तो उसकी सबसे बड़ी विशेषता है। वह साधारण कोटि का पात्र न होकर एक विशिष्ठ प्रकार का पात्र है जो स्वभावत: पाठकों का ध्यान एवं सहानुभूति अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। दूसरे शब्दों में वह रंगभूमि के सूरदास की परम्परा का पात्र है। देवीदीन जैसे पात्र प्रेमचन्द के उपन्यासों में कम मिलते हैं परन्तु जहाँ भी हैं वहाँ वे प्रेमचन्द की विचारधारा का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं। देवीदीन का यही महत्व है।

———

प्रश्न १०—रतन, जोहरा तथा जग्गो तथा अन्य पात्रों का संक्षिप्त चरित्र-चित्रण करते हुए उपन्यास के गठन में इनका उपयोग बताइये।

उत्तर—रतन—रतन एक समृद्ध परन्तु वृद्ध पति की पत्नी है जिसके कोई सन्तान नहीं है। घर में उसका राज्य है। नौकर चाकर आदि सभी उसकी आज्ञा में चलते हैं। पति ने उसे पूरी छूट दे रखी है परंतु इसका वह अनुचित लाभ नहीं उठाती। वह अपने पति के प्रति अत्यधिक कर्त्तव्य परायण बन जाती है। जालपा से उसका घनिष्ठ संबंध है। उसके मन में अपनी उच्च सामाजिक स्थिति एवं समृद्धि का तनिक भी गर्व नहीं आता। वह रमा जैसी साधारण स्थिति की नारी से अत्यंत प्रेम के साथ मिलती है। उसे और रमा को अपने घर बुलाती है और स्वयं भी निस्संकोच उनके घर जाती है। रतन का नगर के प्रतिष्ठित और सम्पन्न घरों से परिचय था। लेकिन प्रेमचन्द के शब्दों में—"जहाँ प्रतिष्ठा थी, वहां तकल्लुफ था, दिखावा था, ईर्ष्या थी, निन्दा थी। क्लब के संसर्ग से अरुचि हो गई थी। वहाँ विनोद अवश्य था, क्रीड़ा अवश्य थी, किन्तु पुरुषों के आतुर नेत्र भी थे, विकल हृदय भी, उन्मत्त शब्द भी। जालपा के घर अगर वह शान न थी, वह दौलत न थी, तो वह दिखावा भी न था, वह ईर्ष्या भी न थी।···जीवन के बाजार में और सभी दूकानदारों की कुटिलता और जट्टूपन से तंग आकर उसने

इस छोटी सी दूकान का आश्रय लिया था।"

उपन्यासकार के उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि रतन सरल और सादा जीवन की आकाँक्षिणी नारी थी। उसे आडम्बर से घृणा थी। वह सच्चा और सरल स्नेह चाहती थी। वृद्ध की नवयुवती पत्नी होते हुए भी उसके मन में कोई शिकायत नहीं उठती थी। जालपा के पूछने पर उसने स्पष्ट शब्दों में कहा—"मुझे तो कभी यह ख्याल भी नहीं आया बहन, कि मैं नवयुवती हूँ और वे बूढ़े हैं। मेरे हृदय में जितना प्रेम है, जितना अनुराग है, वह सब मैंने उनके ऊपर अर्पण कर दिया। अनुराग, यौवन या रूप या धन से उत्पन्न नहीं होता। अनुराग अनुराग से उत्पन्न होता है। मेरे ही कारण वे इस अवस्था में इतना परिश्रम कर रहे हैं और दूसरा है ही कौन! क्या यह छोटी बात है?" रतन अपने पति के प्रति सच्ची है। वह उसे धोखा देने की बात कभी भी नहीं सोचती। वह निस्सन्तान है परन्तु जालपा के पूछने पर कह देती है कि उसे सन्तान की कोई लालसा नहीं होती। ऐसा कहकर रतन अपने सन्तान हीन होने के अभाव को छिपा जाती है जो स्वाभाविक है।

आभूषण प्रेम नारी की स्वाभाविक दुर्बलता है। जालपा की तरह रतन भी आभूषणों पर जान देती है। उसके आभूषण प्रेम ने ही रमा को परिस्थितियों में जकड़ कर अलक्षित रूप से गवन करने को बाध्य किया। न रतन कंगनों के लिए रुपये देती और न रमा को रतन के बार-बार तकाजे करने पर सरकारी रुपये लाने पड़ते। रमा के भाग जाने पर जालपा रतन को उसके बारबार आग्रह करने पर अपने कंगन देने को प्रस्तुत हो जाती है तो रतन की प्रसन्नता का पारावार नहीं रहता। वह जालपा के इस भयानक संकट को जानते हुए भी ऐसे अवसर पर उसके कंगन लेने में नहीं हिचकिचाती और कहती है—"इसे तुम्हारी निशानी समझूँगी। आज बहुत दिन के बाद मेरे मन की अभिलाषा पूरी हुई।"

रतन के आभूषण प्रेम का एक और उदाहरण इसी प्रकार का

है। उसके घर एक जौहरी गहने दिखाने आया। उसने बारह सौ का एक हार पसन्द किया परन्तु उस समय उस के पास इतने रुपये नकद न रहने के कारण वह उसे खरीदने में असमर्थ हो गई। जौहरी हार को सन्दूक में रखने लगा। उस समय रतन की उत्कंठा और व्याकुलता देखने योग्य है—"रतन का रोआँ-रोआँ कान बना हुआ था मानो कोई कैदी अपनी किस्मत का फैसला सुनने को खड़ा हो। उसके हृदय की सारी ममता, ममता का सारा अनुराग, अनुराग की सारी अधीरता, उत्कंठा और चेष्टा उसी हार पर केन्द्रित हो रही थी, मानों उसके प्राण उसी हार के दानों में जा छिपे थे, मानों उसके जन्म-जन्मान्तरों की संचित अभिलाषा उसी हार पर मंडला रही थी। जौहरी को सन्दूक बंद करते देखकर वह जल विहीन मछली की भाँति तड़पने लगी। कभी वह सन्दूक खोलती, कभी वह दराज खोलती, पर रुपये कहीं न मिले।" उसी समय वकील साहब आ गये और उन्होंने चैक काटकर जौहरी को दे दिया। रतन को हार मिल गया। "रतन का मुख उस समय बसन्त की प्राकृतिक शोभा की भांति विकसित था। ऐसा गर्व, ऐसा उल्लास उसके मुख पर कभी न दिखाई दिया था। मानों उसे संसार की संपत्ति मिल गई हो।" आभूषण प्रेम की इस शाश्वत नारी-जन्य दुर्बलता की रतन भी जालपा की ही तरह शिकार है। परंतु उसके इस प्रेम ने उसे कभी संकट में नहीं डाला।

वकील साहब की मृत्यु के उपरान्त उसने सारे आभूषणों, सम्पत्ति आदि के मोह को पथिक के समान त्याग दिया और सन्यासिनी सी बन गई।

रतन अपने पति से प्रेम करती है, उनकी सेवा भी करती है; उनके प्रति पूर्ण निष्ठा का निर्वाह करती है। परंतु यदि प्रेमचन्द उसके इसी रूप को महत्व देते तो रतन का चरित्र अस्वाभाविक बन कर देवी बन जाता। प्रेमचन्द ऐसे मानव-मनोविज्ञान के पारखी से ऐसी गल्ती होनी असम्भव थी। वृद्ध की नवयुवती पत्नी के मन में कहीं-न-कहीं आक्रोश

अथवा कचोट अवश्य रहती है । रतन की इस भावना का परिचय उस समय मिलता है जब कलकत्ते में वकील साहब की बीमारी से मृत्यु हो जाती है और रतन अपने सम्पूर्ण विगत जीवन के अपने विचारों एवं कर्त्तव्यों का लेखा-जोखा करती हुई सोचती है कि उसने अपने पति के प्रति अपने कर्त्तव्य का पूर्ण रूप से पालन नहीं किया ।

"पछतावे की एक-दो बात थी ? इस आठ साल के जीवन में मैंने पति को क्या आराम पहुँचाया ? वह बारह बजे तक कानूनी किताबें देखते रहते थे । मैं पड़ी सोती रहती थी । वह सन्ध्या समय भी मुवक्किलों से मामले की बातें करते थे, मैं पार्क और सिनेमा की सैर करती थी, बाजारों में मटरगस्ती करती थी ।" आदि । रतन की अन्तरात्मा सदैव विद्रोह करती थी, केवल इसलिए कि इनसे मेरा सम्बन्ध क्यों हुआ । परन्तु इस समय उसका हृदय फटा जा रहा था । वह चाह रही कि उसके भी प्राण निकल जाँय । रतन का यह विलाप एवं पश्चाताप उसकी मानवीय दुर्बलताओं पर पश्चाताप था ।

पति की मृत्यु के उपरान्त रतन विरक्त हो उठती है । उसका भतीजा मणिभूषण एक एक कर सारी सम्पत्ति पर अधिकार करता चला जाता है परन्तु रतन कुछ भी नहीं कहती । और अन्त में मणिभूषण उसका सब कुछ छीन कर उसे राह की भिखारिन बना देता है । और इस समय रतन नारी जाति के लिए एक सन्देश देती है कि—"बहनो, किसी सम्मिलित परिवार में विवाह न करना और अगर करना तो जब तक अपना अलग घर न बनालो, चैन की नींद मत सोना ।" अपने इन उद्गारों द्वारा रतन नारी जाति की सम्पत्ति हीनता तथा पति की सम्पत्ति पर भी अपना अधिकार न होने के दुखद प्रकरण पर गहरा प्रकाश डालती हुई आधुनिक समाज व्यवस्था पर निर्मम आघात करती है ।

रतन चरित्र की निर्मल स्त्री है । उस पर किसी भी प्रकार का कोई अंकुश नहीं है परन्तु वह उस स्वाधीनता का अनुचित उपयोग नहीं करती । कलुषता से दूर रहने के लिए ही वह क्लबों आदि से कतराती

रहती है। रमा सुन्दर है, युवक है, रतन से उसके अच्छे सम्बन्ध हैं परन्तु वह रमा के प्रति नहीं झुकती। स्वभाव की वह इतनी सरल और निस्संकोच है कि एक बार रमा उसके यहां अकेला जाता है तो वह उसके साथ झूला झूलने में भी सकोच नहीं करती और उसे झूले पर अपने साथ ही बिठाकर स्वयं झुलाती और साथ ही साथ गाना भी गाती है।

रतन की यही स्पष्टता उस समय दिखाई पड़ती है जब वह रमा से बार बार अपने कंगनों का तकाजा करती हैं। उसके मन में यह सन्देह है कि इन लोगों ने उसके रुपए खर्च कर डाले हैं इसलिए बहाने बना रहे हैं। इस पर वह अत्यन्त कठोर होकर स्पष्ट शब्दों में कह देती है कि कल तक, उसे रुपए हर हालत में मिल जाने चाहिए। उसके स्वभाव की निर्भीकता और दृढ़ता उस समय और भी उभर कर सामने आती है जब जालपा अपने छोटे देवर के साथ अकेली कलकत्ते जाने की तैयारी कर रही है और परदेश से भयभीत है। उस समय रतन उसे ढाढ़स बंधाती हुई कहती है—

"कोई जरा भी शरारत करे तो ठोकर मारना। बस, कुछ पूछना मत। ठोकर जमाकर तब बात करना। (कमर से एक छुरी निकाल कर) इसे अपने पास रख लो। कमर में छिपाये रखना। मैं जब कभी बाहर निकलती हूँ तो इसे अपने पास रख लेती हूँ।...जो मर्द किसी स्त्री को छेड़ता है, उसे समझ लो कि पल्ले सिरे का कायर, नीच और लम्पट है।...जब तुम्हें छुरी से काम लेने के लिए मजबूर हो जाना पड़े तो ज़रा भी मत झिझकना। छुरी लेकर पिल पड़ना। इसकी बिल्कुल फिक्र मत करना कि क्या होगा, क्या न होगा। जो होना होगा हो जायेगा।"

रतन की यह वीरता नारी मात्र के लिए अनुकरणीय है। यदि हमारी नारियाँ इसी वीरता और साहस से काम लें तो उन्हें कभी भी अपमानित नहीं होना पड़ेगा। परन्तु ऐसी वीरता के लिए रतन का सा दृढ़ चरित्र, निश्छलता एवं साहस अपेक्षित है। तभी हमारी नारियाँ गुन्डों से अपनी रक्षा करने में समर्थ हो सकेंगी। रतन का चरित्र हमें

यही सन्देश देता है।

परन्तु इतनी साहसी, सरल एवं निश्चल रतन का अन्त भी निरुद्देश्य होता है ! अपने अन्तिम क्षणों में वह भी देवीदीन के आश्रम में जाकर रहने लगती है और वहीं एक दिन उसकी मृत्यु हो जाती है। कथावस्तु की दृष्टि से रतन की उपयोगिता बहुत पहले ही समाप्त हो चुकी है। बाद में उसके चरित्र में भी कोई प्रस्फुटन नहीं दिखाई देता। इसलिए यह समझ में नहीं आता कि प्रेमचन्द उसे अन्त तक खींच कर क्यों लाये। समष्टि रूप से यदि देखा जाय तो रतन के बिना भी उपन्यास की मूलकथा आगे बढ़ सकती थी। इस उपन्यास में रतन को केवल एक ही उपयोगिता दिखाई देती है और वह यह दिखाना कि सम्मिलित परिवार में हिन्दू नारी की स्थिति कितनी दीन एवं असहाय होती है।

जोहरा—

जोहरा सर्व प्रथम एक प्रौढ़ा वेश्या के रूप में सामने आती है जिसे पुलिस ने रमा को अपने आकर्षण के जाल में फँसाए रखने के लिए नियुक्त कर रखा है। वह वेश्या अवश्य है परन्तु उसका नारीत्व पूर्ण रूप से मर नहीं पाया है। अनुकूल अवसर पाकर उसके चरित्र में सुधार होता है और वह पुलिस को धोखा देती हुई रमा और जालपा की हर प्रकार से सहायता करती है। इस परिवर्तन का मुख्य कारण यह है कि उसे अपने जीवन में रमा से पहले कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं मिला था जो उस पर पूर्ण विश्वास कर उसके सम्मुख अपने हृदय को खोलकर रखता। रमा जोहरा की ओर आकर्षित होता है और जोहरा भी उससे प्रेम करने लगती है। रमा के प्रेम में पड़कर वह ऐसे कार्य करती है जो वाजपेयी जी के शब्दों में—"किसी भी नारी के लिए गौरवप्रद हो सकते हैं। इस चरित्र के द्वारा प्रेमचन्द जी ने कदाचित् यह दिखाया है कि विपरीत परिस्थितियों में भी नारी का नारीत्व पूर्णतः विलुप्त नहीं होता।"

इस उपन्यास में जोहरा के चरित्र का पूरा उभार नहीं दिखाई देता। उसके चरित्र में जो परिवर्तन हुआ है वह भी स्वाभाविक न होकर कुछ-कुछ यांत्रिक सा दिखाई देता है। प्रेमचन्द उसमें जीवन का संचार नहीं कर पाए हैं। जालपा, रतन आदि की तुलना में उसके चरित्र की रेखायें अस्पष्ट और फीकी सी हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रेमचन्द उसके जीवन में परिवर्तन उपस्थित कर यह दिखाना चाहते थे कि एक वेश्या भी अनुकूल अवसर पाकर शुद्ध नारी बन सकती है। परन्तु इसके लिए जीवन व्यापी संघर्ष की विस्तृत रूपरेखा अपेक्षित थी। जो जोहरा के चारित्रिक विकास या परिवर्तन में नहीं मिलती। वह अनायास ही क्षणिक प्रलोभन में पड़कर अपने इतने पुराने संस्कारों को त्याग कर एक सच्ची प्रेमिका बन जाती है। आदर्शवाद की दृष्टि से यह उचित हो सकता है परन्तु यथार्थवाद इस परिवर्तन को इतने अनायास ही स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं। फिर भी उसके चरित्र की कुछ रेखायें सुन्दर हैं।

जोहरा वेश्या होते हुए भी वफा की भूखी है। जब रमा उससे यह कहता है कि—"तुमसे वफा की क्या उम्मीद हो सकती है?" तो जोहरा व्यंग्य भरे शब्दों में उत्तर देती है कि—"हाँ साहब, हम वफा क्या जानें, आखिर वेश्या ही तो ठहरीं! वेवफा वेश्या भी कहीं वफादार हो सकती है?" इसके उपरान्त वह वेश्या-हृदय की वफा के लिए ललक और वेश्याओं के प्रति आने वाले मर्दों की भावनाओं पर प्रकाश डालती हुई वेश्या-जीवन की विवशता और दीनता का थोड़े से ही शब्दों में पूरा एवं खरा चित्र उतार देती है। वह कहती है—

"हक़ीकत यह है कि वहाँ आप लोग दिल-बहलाव के लिए जाते हैं, महज़ ग़म ग़लत करने के लिए, महज़ आनन्द उठाने के लिए। जब आपको वफ़ा की तलाश ही नहीं होती, तो वह मिले क्यों कर? लेकिन इतना मैं जानती हूँ कि हममें जितनी बेचारियाँ मरदों की वेवफाई से निराश होकर अपना आराम-चैन खो बैठती हैं, उनका पता अगर दुनियाँ को चले तो आँखें खुल जाँय। यह हमारी भूल है कि तमाशबीनों से

वफा चाहते हैं, चील के घोंसले में मांस ढूँढ़ते हैं; पर प्यासा आदमी कुएँ की तरफ दौड़े, तो मेरे ख्याल में उसका कोई कसूर नहीं।"

उपरोक्त शब्दों में जोहरा ने यह सिद्ध कर दिया है वे वेश्यायें जिनका उपभोग करके भी हमारा समाज उन्हें नीच, हृदयहीन और तुच्छ समझता है, वास्तव में मानव होती है, उनमें भी दिल होता है जो प्रणय और विश्वास का सच्चा आदान प्रदान करना चाहता है। परन्तु उनके पास जाने वाले पुरुष उनकी इन भावनाओं की तरफ न तो आँख उठाकर देखते हैं और न उन्हें यही विश्वास होता है कि वेश्या भी कभी वफा कर सकती है। रमा जोहरा से प्रेम करने लगता है और जोहरा भी उसकी मुहब्बत में गिरफ्तार होकर उसे कलकत्ते से नहीं जाने देना चाहती। जब रमा उसकी इस बात पर सन्देह करता है तो वह निर्भीक स्वर में जबाव देती है—"अगर यह खौफ हो तो निकाह पढ़ा लो। निकाह के नाम से चिढ़ हो, तो व्याह कर लो। पंडितों को बुलाओ। अब इसके सिवा मैं अपनी मुहब्बत का और क्या सबूत दूँ।" इसके बाद जब रमा ने उससे यह प्रार्थना की कि वह जालपा के पूरे हाल-चाल का पता लगा कर उसे बता सके तो वह उम्र भर उसकी गुलामी कर सकता है। रमा की इस कातरता एवं स्पष्टवादिता से जोहरा बहुत प्रभावित हुई। इस स्थान पर प्रेमचन्द ने जोहरा के चरित्र का विश्लेषण करते हुए एक अनुराग की भूखी वेश्या की भावनाओं पर प्रकाश डाला है—

"जोहरा वेश्या थी, उसको अच्छे-बुरे सभी तरह के आदमियों से साबिका पड़ चुका था। उसकी आँखों में आदमियों की परख थी।··· प्रौढ़ा स्त्रियाँ अनुराग की अवहेलना नहीं कर सकतीं। रमा में और सब दोष हों, पर अनुराग था। इस जीवन में जोहरा को यह पहला आदमी ऐसा मिला था जिसने उसके सामने अपना हृदय खोल कर रख दिया था, जिसने उससे कोई परदा न रखा। ऐसे अनुराग रत्न को वह खोना न चाहती थी।" इस प्रकार अपने तन का सौदा करने वाली इस नारी ने अनुराग के सम्मुख अपना सब कुछ न्यौछावर कर देने का निर्णय कर

लिया और जी-जान से रमा की सहायता करने में जुट गई।

जोहरा मानव-स्वभाव की पारखी है। जब वह जालपा से मिलकर वापसआई तो उसने निम्नलिखित शब्दों में जालपा का मूल्यांकन किया- "तुमने मुझे उस देवी से वरदान लेने भेजा था, जो ऊपर से फूल है, पर भीतर से पत्थर; जो इतनी नाजुक होकर भी इतनी मजबूत है।" आगे चलकर वह पुनः जालपा की प्रशंसा करती हुई कहती है-"जालपा ने ऐसी निगाहों से मेरी तरफ देखा, जिसमें सच्चे प्रेम के साथ सच्चा उल्लास, सच्चा आशीर्वाद भरा हुआ था। वह चितवन! आह! कितनी पाकीज़ा थी, कितनी पाक करने वाली। उनकी इस बेगरज खिदमत के सामने मुझे अपनी जिन्दगी कितनी ज़लील, कितनी काबिल-नफरत मालूम हो रही थी। उन बरतनों के धोने में जो आनन्द मिला, उसे मैं बयान नहीं कर सकती।"

जोहरा को अपनी वर्तमान जिन्दगी से सख्त नफरत है। वह जब जालपा से अपनी तुलना करती है तो शर्म से उसका सिर झुक जाता है। जब जालपा से मिलने से बाद उसने अन्त में उससे यह कहा कि—"अगर इस वक्त तुम्हें मालूम हो जाय कि मैं कौन हूँ, तो शायद तुम नफरत से मुँह फेर लोगी और मेरे साये से भी दूर भागोगी।" इन शब्दों का स्वयं उसके ऊपर क्या प्रभाव पड़ा इसका वर्णन उसी के मुँह से सुनिए—

"इन लफ्जों में न मालूम क्या जादू था कि मेरे सारे रोंये खड़े हो गए। यह एक रंज और शर्म से भरे हुए दिल की आवाज़ थी और इसने मेरी स्याह जिन्दगी की सूरत मेरे सामने खड़ी करदी।"

रमा ने जोहरा को जालपा के पास इस उद्देश्य से भी भेजा था कि वह किसी तरह उसे समझा बुझा कर प्रयाग वापस भेज दे। परन्तु जोहरा ने ऐसा कोई प्रयत्न नहीं किया। उल्टे वह जालपा की महानता की उपासक बन गई। यदि वह चाहती तो रमा को प्राप्त करने के लिए जालपा को अपने रास्ते से हटाने की कोशिश करती और ऐसा करके रमा के साथ जिन्दगी बिता सकती थी। परन्तु यह अनुराग की भूखी

नारी दूसरी नारी का स्वत्व अपहरण कर अपना भला करने को किसी भी प्रकार अपने को प्रस्तुत न कर सकी। वह केवल रमा का अनुराग चाहती थी और उसी को प्राप्त करने के लिए अन्त में वह रमा आदि के साथ प्रयाग आकर सेवा कार्य में जुट गई। इस प्रकार एक वेश्या का कायाकल्प हो गया। प्रयाग रहते हुए उसने कभी भी रमा से घनिष्ठता स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया। वह अपने सेवा कार्य में ही मग्न रहने लगी। दुखिया रतन के प्रति उसे सच्ची सहानुभूति थी इसलिए उसने अन्तिम समय तक रतन की सेवा की और रतन के न रहने पर यह त्यागमयी नारी उदास और एकाकी रहने लगी।

जोहरा का अन्त तो और भी अधिक प्रभावित करने वाला है। बाढ़ से उफनती हुई गंगा में एक किश्ती डाँवाड़ोल हो रही है और अन्त में उलट जाती है। जोहरा ने देखा कि एक स्त्री, जिसके गोद में एक बच्चा है बहती चली जा रही है। रमा, जालपा आदि का चढ़ी नदी में कूदने का साहस नहीं होता परन्तु जोहरा तुरन्त नदी में घुसकर उस स्त्री की तरफ बढ़ने लगती है और अन्त में उसी के साथ डूब जाती है। इस प्रकार इस भूतपूर्व वेश्या और बाद की सेवा परायण नारी का दुखद अन्त होता है। प्रेमचन्द का नारो पात्रों के प्रति श्रद्धा एवं प्रेम का भाव जोहरा में आकर एक बार पुनः जीवित हो उठा है और जोहरा के इस बलिदान के प्रति पाठक का मस्तक श्रद्धा से झुक जाता है।

जहाँ तक मूलकथा में जोहरा के योग का प्रश्न है, जोहरा का चरित्र कथावस्तु की दृष्टि से कोई महत्व नहीं रखता। जोहरा के अभाव में भी कथा सुचारु रूप से चल सकती थी। परन्तु जहाँ तक चरित्र की दृष्टि से जोहरा का प्रश्न उठता है वहां भी प्रेमचन्द उसके मनोवैज्ञानिक विकास को क्रमिक रूप से आगे बढ़ाने के प्रति सचेत नहीं प्रतीत होते। उसका चरित्र एक प्रकार से याँत्रिक सा बन गया है। उसके अपने व्यक्तित्व में प्रस्फुटन के लक्षण नहीं है। उपन्यासकार मनमाने ढंग से उसके द्वारा एक आदर्श की सृष्टि करना चाहता है और उसमें कुछ सीमा तक सफल भी हुआ है। इस प्रकार जोहरा का चरित्र एक समस्या

बन कर रह जाता है। इसलिए प्रेमचन्द अन्त में उसका अन्य कोई उपयोग न देखकर डुबवा कर उसे समाप्त कर देते हैं।

जग्गो—

जग्गो का चरित्र ऊपर से देखने पर निम्न वर्ग की एक साधारण स्त्री का चरित्र दिखाई देता है परन्तु जब हम उसे गहराई से देखने का प्रयत्न करते हैं तो उसमें मानवता के वे सारे गुण मिल जाते हैं जिनपर आज भी मानवता टिकी हुई है। वह इस वृद्धावस्था में भी घर का सारा काम करती है, दूकान चलाती है। बाजार जाकर दूकान के लिए सामान खरीदकर लाती है, रमा जैसे निठल्ले व्यक्ति को कुड़बुड़ाती हुई आश्रय देती है, खाना खिलाती है, अपने आलसी पति की सारी जरूरतों की पूर्ति करती है। रमा के विश्वासघात करने पर देवीदीन तो उत्तेजित हो उठता है परन्तु जग्गो उसके लिए इस तरह व्याकुल होती है मानो वह उसका अपना पुत्र हो ; और जालपा को अपनी बहू की तरह अपने घर में रखकर आश्रय देती है। उपरोक्त सारे गुण प्राय: निम्न समाज के व्यक्तियों में ही मिलते हैं। उच्च और मध्यम वर्ग तो अपने स्वार्थ एवं प्रपंचों में इतना व्यस्त रहता है कि उसमें उपरोक्त गुण मुश्किल से ही मिल सकते हैं। जग्गो एक प्रकार से समाज की उन सामान्य नारियों की प्रतिनिधि है जो दया, करुणा और प्रेम की अवतार होती हैं परन्तु उच्च वर्ग नीच कह कर जिनकी उपेक्षा करता रहता है।

रमा जब देवीदीन के साथ उसके घर आता है तो जग्गो अनखना उठती है परन्तु जब रमा कुछ दिनों बाद उससे अम्मा कहने लगता है तो बुढ़िया गद्‌गद् हो उठती है और उससे बेटे के ही समान स्नेह करने लगती है। उसके दो बेटे शहीद हो चुके हैं परन्तु राजनीति से अनभिज्ञ यह नारी उनके उस बलिदान पर गर्व न कर सन्तान की चोट से दुखी रहती है। देवीदीन की हरकतें उसे पसन्द नहीं हैं। उसका नशा करना उसे फूटी आंखों भी नहीं सुहाता। वह देवीदीन के दुखड़े झींकती हुई

रमा से कहती है—"मैं तो सोचती हूँ, कौन जाने आगे क्या हो, हाथ में चार पैसे होंगे, तो पराये भी अपने हो जायेंगे, पर इस भले आदमी को रत्ती भर चिन्ता नहीं सताती। कभी तीरथ है, कभी कुछ, कभी कुछ; मेरा तो (नाक पर उंगली रखकर) नाक में दम आ गया। भगवान उठा ले जाते तो यह कुसंग तो छूट जाता। तब याद करेंगे लाला। तब जग्गो कहाँ मिलेगी जो कमा-कमा कर गुलछर्रे उड़ाने को दिया करेगी। तब रक्त के आँसू न रोयें तो कह देना।"

बुढ़िया सुबह से लेकर रात तक काम में लगी रहती है। उसे अपनी इस मेहनत की कमाई को नशे-पानी में इस तरह बर्बाद होते देखकर बहुत दुख होता है। वह कहती है–"दूसरी औरत होती तो घड़ीभर इसके साथ निबाह न होता, घड़ी भर। पहर रात से चक्की में जुत जाती हूँ और दस बजे रात तक दूकान पर बैठी सती होती रहती हूँ।...और जो कुछ कमाती हूँ, यह नसे में बरबाद कर देता है।....कभी एकाध चीज वस्त्र बनवा लेती हूँ तो वह आँखों में गड़ने लगती है। तानों से छेदने लगता है।'

बुढ़िया अपने दोनों पुत्रों की स्मृति को मन में सँजोये उन्हीं की पूजा सी करती दिन काटती रहती है। बेटों की उसे बड़ी याद आती है। वह उनकी मौत का जिम्मेदार देवीदीन को ही ठहराती है।— "सुख भोगना लिखा होता, तो जवान बेटे चल देते, और इस पियक्कड़ के हाथों मेरी यह साँसत होती ? इसी ने सुदेसी के झगड़ों में पड़कर मेरे लालों की जान ली। आओ इस कोठरी में भैया, तुम्हें मुग्दर की जोड़ी दिखाऊँ। दोनों इस जोड़ी के पाँच-पाँच सौ हाथ फेरते थे।" मुग्दरों की वह जोड़ी वार्निश की हुई साफ सुथरी ऐसी रखी थी मानो अभी किसी ने फेर कर रखदी हो। जब बुढ़िया से यह कहा गया था कि इस जोड़ी को दान करदो तो उसने उत्तर दिया–"यही जोड़ी मेरे लालों की जुगल जोड़ी है। यही मेरे दोनों लाल हैं।"

पुत्र-स्नेह की भूखी इस जग्गो को देखकर रमा गदागद हो उठा। "कितना पावन धैर्य है ! कितनी विशाल वत्सलता, जिसने लकड़ी के

इन दो टुकड़ों को जीवन प्रदान कर दिया है। रमा ने जग्गो को माया और लोभ में डूबी हुई, पैसे पर जान देने वाली, कोमल भावों से सर्वथा विहीन समझ रखा था। आज उसे विदित हुआ कि उसका हृदय कितना स्नेहमय, कितना कोमल, कितना मनस्वी है।" बुढ़िया के इस रूप को देखकर जब रमा ने यह कहा कि-"आज से मैं तुम्हें अम्मा कहा करूँगा।" तो-"बुढ़िया के शुष्क, ज्योतिहीन, ठंडे कृपण नेत्रों से मोती के से दो बिन्दु निकल पड़े।" बुढ़िया की मातृ-भक्ति की भूखी आत्मा बहुत दिनों से तड़प रही थी। उसके हृदय में संचित सम्पूर्ण प्रेम माता के स्तन में एकत्र होने वाले दूध की भाँति बाहर निकल पड़ने के लिए व्याकुल हो उठा। पत्थर पर दूब के अंकुर फूटने लगे।"

रमा जब गिरफ्तार हो गया तो जग्गो ने उसे छुड़ाने के लिए रिश्वत के रुपए देने में जरा भी आनाकानी नहीं की। देवीदीन को हमेशा डाटती रहने वाली जग्गो भी उससे रमा के मुकद्दमे का समाचार सुनने के लालच में उसकी खातिर खुशामद करने लगी। रमा से उसे पुत्र का सा स्नेह हो गया था। परन्तु अपने परिश्रम पर निर्भर रहने वाली जग्गो का आत्म-सम्मान इस बात को कभी भी गवारा नहीं कर सकता था कि अन्याय अथवा पाप की कमाई को वह स्वीकार करेगी अथवा उसका विरोध न करेगी। जग्गो जब यह सुनती है कि रमा को देशभक्तों के खिलाफ झूठी गवाही देने के इनाम में आराम की जिन्दगी बिताने को मिली है तो वह तिलमिला उठती है। जिसने अपने दो जवान पुत्रों को देश की भेंट चढ़ा दिया हो वह नारी कभी देशद्रोही को क्षमा नहीं कर सकती। इसीलिए जब रमा उसके लिए चार सोने की चूड़ियाँ लेकर आता है तो -

"जग्गो ने चूड़ियाँ उठाकर जमीन पर पटक दीं और आँखें निकाल कर बोली—जहाँ इतना पाप समा सकता है वहाँ चार चूड़ियों की जगह नहीं है। भगवान की दया से बहुत चूड़ियाँ पहन चुकी और अब भी सेर दो सेर सोना पड़ा होगा। लेकिन जो खाया, पहना, अपनी मिहनत की कमाई से; किसी का गला नहीं दबाया, पाप की गठरी

सिर पर नहीं लादी। नीयत नहीं बिगाड़ी। उस कोख में आग लगे जिसने तुम जैसे कपूत को जन्म दिया।" इसके बाद वह जालपा की प्रशंसा करती हुई रमा से कहती है कि अपना भला चाहो तो उसे मुँह न दिखाना क्योंकि अगर—

"तुम आज पुलिस के हाथों जख्मी होकर, मार खाकर आये होते, तुम्हें सजा हो गई होती, तुम जेल में डाल दिए गए होते, तो बहू तुम्हारी पूजा करती, तुम्हारे चरन धो-धोकर पीती।...तुम अगर मेरे लड़के होते तो तुम्हें ज़हर दे देती। क्यों खड़े मुझे जला रहे हो ? चले क्यों नहीं जाते ? मैंने तुमसे कुछ ले तो नहीं लिया है ?"

उक्त शब्दों में जग्गो के हृदय का वह क्रोध, क्षोभ एवं वेदना व्यक्त हुई है जो उसे रमा को देशद्रोही के रूप में देख कर हुई है। उसने उसे जी भर कर सुनाईं मगर जब जालपा ने भी रमा को खूब खरी-खोटी सुनाईं तो यह बुढ़िया भी अपने बेटे के पक्ष में होकर जालपा को समझाने लगी—"तुम्हें इतना बेलगाम न होना चाहिए था, बहू। दिल पर चोट लगती है, तो आदमी को कुछ नहीं सूझता।" यहाँ जग्गो का मातृहृदय अपने पालित से पुत्र रमा को कष्ट में देखकर व्याकुल हो उठा है। माता स्वयं अपने बच्चे को मार लेगी, डाट लेगी परन्तु यदि कोई दूसरा ऐसा करेगा तो उससे लड़ मरेगी। ऐसी ही माता जग्गो है।

सम्पूर्ण उपन्यास में केवल जग्गो का छोटा सा चरित्र ही इतना मनोवैज्ञानिक और पूर्ण है कि जालपा को छोड़कर और कोई भी उसकी तुलना में खड़ा नहीं हो पाता। इतनी स्वाभाविकता अन्यत्र नहीं मिलती। जग्गो का पूरा चरित्र देवीदीन के चरित्र का पूरक है। जग्गो के अभाव में देवीदीन का चरित्र इतना उभर कर न आता, इसमें सन्देह नहीं। कथावस्तु के गठन में जितनी उपयोगिता देवीदीन की है उतनी ही जग्गो की भी है। रतन और जोहरा के अभाव में यह उपन्यास बहुत थोड़ा सा ही खोता परन्तु जग्गो के न होने पर उसका, विशेषकर कलकत्ते वाली कथा का, बहुत बड़ा आकर्षण समाप्त हो

प्रश्न १२—'ग़बन' को आप यथार्थवादी उपन्यास मानेंगे अथवा आदर्शवादी ? तर्क पूर्ण विवेचन कीजिए।

उत्तर—हम पिछले पृष्ठों में इस बात का विवेचन कर आये हैं कि आदर्श और यथार्थ में क्या अन्तर एवं सम्बन्ध है तथा प्रेमचन्द आदर्शोन्मुख यथार्थवादी उपन्यासकार हैं। यह स्पष्ट हो चुका है कि आदर्श और यथार्थ में कोई निश्चित विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। जो आलोचक प्रेमचन्द को शुद्ध यथार्थवादी मानते हैं वे भी भ्रम में हैं तथा जिन्हें उनमें आदर्श के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं दिखाई देता वे भी भ्रम में हैं। वास्तव में प्रेमचन्द का आदर्शवाद सदैव यथार्थ की पृष्ठभूमि पर आधारित रहता है। परन्तु 'ग़बन' को देखने से ज्ञात होता है कि प्रेमचन्द इस उपन्यास तक आते आते अपने पूर्ववर्ती कल्पित आदर्शों के स्वप्न-जगत को त्यागकर यथार्थ के बहुत नजदीक आ गए हैं। फिर भी उनमें आदर्श का थोड़ा सा मोह बचा रह गया है जिसके दर्शन इस उपन्यास के अन्त में होते हैं।

सुलझे हुए आलोचकों ने 'ग़बन' को प्रेमचन्द का यथार्थवादी उपन्यास माना है। डा० रामविलास शर्मा के शब्दों में—'निर्मला' के बाद 'ग़बन' हिन्दी-साहित्य के यथार्थवाद में एक और आगे बढ़ा हुआ कदम है। वह जीवन की असलियत की छानबीन और गहराई से करता है, भ्रम के पर्दे उठाता है, नए रास्ते ढूँढ़ने के लिए वह जनता को नई प्रेरणा देता है।" डा० रामरतन भटनागर का कथन है कि—"रमानाथ प्रेमचन्द का प्रथम यथार्थवादी नायक है, और ग़बन प्रथम यथार्थवादी उपन्यास।"

आलोचकों के उपरोक्त मतों की असलियत हम तभी समझ पायेंगे जब आदर्श और यथार्थ को, उनकी संकुचित परिभाषाओं से ऊपर उठकर देखने का प्रयत्न करेंगे। इस उपन्यास में प्रेमचन्द का मूल ध्येय मध्यवित्त वर्ग समाज का यथार्थ चित्रण करना रहा है। इस वर्ग का जितना यथार्थ चित्रण इस उपन्यास में मिलता है उतना प्रेमचन्द के अन्य किसी भी उपन्यास में नहीं है। उन्होंने आदर्श के मोह को अपने

से सर्वथा दूर रखते हुए, इस समाज का जो रूप देखा उसे हूबहू वैसे ही टाँक दिया। यह वर्ग अपनी सारी अच्छाइयों और बुराइयों के साथ चित्रित हुआ है। इसमें न तो कोई देवता ही है और न राक्षस। रमा जैसे पात्र से भी पाठक घृणा नहीं कर पाता। उसे उससे भी थोड़ी बहुत सहानुभूति रहती है।

व्यक्ति 'सु' और 'कु' का मिश्रण माना जाता है। इन दोनों के समन्वय से ही उस प्राणी का चरित्र बनता है जिसे हम 'मानव' कहते हैं। इस उपन्यास के पात्रों में रमा, दयानाथ, जालपा, रतन, जोहरा, देवीदीन आदि सभी में अच्छाइयाँ और बुराइयाँ दोनों ही हैं। रमा ईमानदार है, परिश्रमी भी है परन्तु परिस्थितियाँ उसे झूठा, बेईमान और काहिल बना देती हैं। न चाहते हुए भी उसे ग़बन करना पड़ता है, झूठ बोलना पड़ता है, झूठी गवाही देनी पड़ती है। वह कायर है परन्तु फिर भी जालपा की दीनदशा को देख कर उसका साहस उमड़ पड़ता है और वह सत्य का उद्घाटन कर एक भयंकर पाप से बच जाता है। वह सुखी एवं विलासी जीवन का आकांक्षी है, इसका अवसर मिलने पर उसका भोग भी करता है। परन्तु वह मानव है इसलिए अवसर आने पर उस सब का त्याग कर लोक-सेवक बन जाता है। मुंशी दयानाथ ईमानदार हैं, रिश्वत कभी नहीं ली परन्तु परिस्थितियाँ उन्हें भी चोरी और बेईमानी कराने को बाध्य कर देती हैं। वे जानते हैं कि बेईमानी का परिणाम सदैव बुरा निकलता है परन्तु आर्थिक अभाव उनसे न चाहते हुए भी सब कुछ करा लेता है।

रतन के चरित्र में भी हमें उसी यथार्थ के दर्शन होते हैं। वृद्ध पति की पत्नी होते हुए भी वह उनसे प्रेम करती तो है परन्तु उसके मन में यह कचोट सदैव विद्यमान रहती है कि उनके साथ उसका विवाह क्यों हुआ। पति काम में जुटे रहते हैं और रतन सैर तमाशे में घूमती रहती है। परन्तु चरित्र की सच्ची है। उसे आडम्बर से घृणा है। संकट पड़ने पर जालपा की सहायता करती है, उसे वीरता का उपदेश देती है परन्तु स्वयं उसके जीवन का कोई उद्देश्य नहीं है, इसलिए पति की

मृत्यु हो जाने पर असहाय सी होकर अपनी सारी सम्पत्ति लुट जाने देती है। ऐसे चरित्रों से हमारा समाज भरा पड़ा है। रतन से भी महत्वपूर्ण चरित्र जोहरा का है। वह वेश्या है परन्तु अनुराग की भूखी है। सभी वेश्यायें यह चाहती हैं कि गृहस्थ बन कर अच्छाई का जीवन बितायें परन्तु समाज के कर्णधार लम्पट पुरुष उन्हें ऐसे अवसर नहीं देते। इसी कारण जोहरा जब रमा जैसे निर्बल व्यक्ति से भी अनुराग की झलक पाती है तो, भावी संकटों की चिन्ता न कर उसके दामन से बँध जाती है और अन्त में डूबते हुओं की रक्षा करने में अपने प्राणों का उत्सर्ग कर देती है। प्रेमचन्द ने जोहरा के रूप में वेश्या को उसके वास्तविक परन्तु नवीन से लगने वाले रूप में समाज के सम्मुख उपस्थित किया है। जोहरा के चरित्र में कहीं भी अस्वाभाविकता नहीं है।

देवीदीन खटीक ऊपर से देखने पर आदर्शवादी सा पात्र प्रतीत होता है। वह दुखियों की मदद करता है, पुलिस की भी परवाह न करते हुए रमा और जालपा को हर प्रकार की सहायता पहुँचाता है, उन्हें अपने यहाँ आश्रय देता है। स्वदेशी का अनन्य भक्त। है अपने दो जवान बेटों को स्वदशी की भेंट चढ़ा चुका है। उसकी राजनीतिक चेतना गजब की है। स्वल्पशिक्षित होते हुए भी वह देश की स्थिति का सच्चा पारखी है क्योंकि उसने जीवन की पाठशाला में क्रियात्मक शिक्षा पाई है। उसका यह रूप दवताओं का सा है परन्तु उसमें भी प्रेमचन्द ने स्वाभाविक कमजोरियाँ दिखाई हैं। वह खुद कुछ भी नहीं कमाता, उसे नशा-पानी का शौक है। उसकी इन सारी जरूरतों की पूर्त्ति बुढ़िया जग्गो की कमाई से होती है। वह पत्नी की डाट सहता है परन्तु अपनी मटरगश्ती और नशे की आदतों को नहीं छोड़ता। इस प्रकार पत्नी की कमाई पर जीवन-यापन करने वाला देवीदीन भी पूर्ण मानव है, मानवता का सच्चा उपासक है। उसके चरित्र की इस विचित्रता को दें खकर ही वाजपेयी जी ने उसे विचित्र माना है। सीमा के बाहर उत्साह और असीम अकर्मण्यता उसके चरित्र में घुल मिल गए हैं। ऐसे व्यक्ति भी

संसार में मिल जाते हैं इसमें सन्देह नहीं। ये लोग घर में दिया न जलाकर मस्जिद में दिया जलाने के सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं। इस दृष्टि से देवीदीन के चरित्र को अस्वाभाविक नहीं माना जा सकता।

इस उपन्यास का सबसे प्रमुख पात्र जालपा है। केवल उसी का चरित्र ऐसा है जिसमें हमें निरन्तर गतिशीलता एवं विकास मिलता है। उसका प्रारम्भिक रूप एक आभूषण प्रिय विलासिनी नारी का है परन्तु उसमें भी रिश्वत आदि का विरोध करने के रूप में चरित्र की दृढ़ता के बीज मिल जाते हैं। वह अन्याय को पाप समझती है परन्तु फिर भी रिश्वत के रुपयों से ऐश आराम करती है। अपने पति की तनख्वाह को जानती हुई भी उधार गहने लाने का विरोध नहीं करती। परन्तु इसी जालपा पर जब संकट आते हैं तो वह सिंहनी के समान उनसे टक्कर लेने को कटिबद्ध हो जाती है। वह दूरदर्शी है, चतुर है, साहसिन है और चरित्र की पक्की है। उसी की सूझबूझ से रमा का पता लगता है, उसी की प्रेरणा से रमा कुमार्ग से हट जाता है । ऐसे अवसर पर जालपा अपने विलास और सुख को तिलांजलि दे देती है। वह जानती है कि उसी के कारण रमा को यह सब भोगना पड़ा है। अब उसे "सच्चा सुख उनकी देखभाल करने में मिलता है जिनके बेटों और पतियों को अंग्रेजी राज फाँसी देने की तजबीज करता है।" इस प्रकार जालपा ही एक ऐसी नारी है जो परिस्थितियों के सम्मुख हतप्रभ होकर नहीं झुकती बल्कि साहस के साथ उनका सामना करती हुई उन पर विजय प्राप्त करती है। प्रेमचन्द जालपा के रूप में एक आदर्श नारी का चित्र उपस्थित करते हैं परन्तु यह आदर्श चित्र भी ऐसा है जिसकी पृष्ठभूमि यथार्थ पर आधारित है।

सामाजिक जगत के उपरोक्त सभी पात्र स्वाभाविक हैं। इन्हीं के योग से हमारे मध्यवित्त वर्ग समाज का निर्माण होता है। इनकी अपनी कमजोरियाँ हैं, अपनी अच्छाइयाँ हैं और यथार्थ का वास्तविक चित्रण वहीं सफल माना जाता है जहाँ जीवन के इन दोनों पक्षों का उचित

एवं सन्तुलित मिश्रण हो। इस दृष्टि से ग़बन एक सफल यथार्थवादी उपन्यास ठहरता है। प्रेमचन्द का आदर्शवाद केवल उपन्यास के अन्त में ही उभर कर आता है परन्तु उससे उपन्यास को सौन्दर्य में व्याघात ही पड़ा है। आदर्श का यह मोह प्रेमचन्द में बहुत पहले से चला आ रहा था इसलिए अन्त में वे इसके आकर्षण में पड़ कर फिसल ही गए।

प्रश्न १३—कला एवं भाषा आदि की दष्टि से 'गवन' की संक्षिप्त आलोचना करते हुए सिद्ध कीजिए कि यह उनके उपन्यासों में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

उत्तर—प्रेमचन्द एक जागरूक कलाकार हैं। उनके विचारों तथा कला का विकास उत्तरोत्तर निखार को प्राप्त होता गया है। जिस प्रकार अपनी विचारधारा को एक निश्चित रूप देने के लिए उन्होंने कभी अतीत की ओर देखा, कभी देशप्रेम से ओतप्रोत भावना को अपनाया, कभी समाज की विषमता का मूल कारण खोजने की चेष्टा की, उसी तरह उन्होंने अपनी उक्त भावनाओं को व्यक्त करने के लिए भी शिल्प-विधान के विभिन्न प्रयोग किए। इन विभिन्न प्रयोगों के करने में उनका एकमात्र उद्देश्य एक ऐसी टेकनीक की खोज करने का रहा जिसके द्वारा वे अपनी बात को जन-साधारण तक आसानी से पहुंचा सकें। इसका कारण यह था कि वे साहित्य को जीवन की आलोचना मानते थे। अपने साहित्य के अंकन में उनका प्रधान उद्देश्य यह था कि वे उसके द्वारा जीवन का सच्चा और यथार्थ चित्रण कर जनता में जागरण का सन्देश फूक सकें। इसलिए उनके सम्मुख शिल्प-विधान गौण एवं सन्देश प्रधान था। अपने सन्देश को प्रभावशाली एवं लोकप्रिय बनाने के लिए उन्होंने दो बातों की ओर विशेष ध्यान दिया था—मनोवैज्ञानिक चित्रण तथा जनता की भाषा। ऐसा होने पर पाठक उनमें अपना तथा समाज का प्रतिबिम्ब देखकर उन्हें अपना सकेंगे। इसलिए प्रेमचन्द ने कहा था कि जनता आपकी बात तभी समझ सकेगी

जब आप उसकी बात उससे उसी की बोली में कहेंगे। इन्हीं दो बातों को प्रधान मान कर प्रेमचन्द ने अपनी कला का निर्माण किया था।

पात्रों के चरित्र का चित्रण स्पष्ट, गहरा, विकासपूर्ण और मनोवैज्ञानिक होने पर ही प्रभाव डालता था। आदि से अन्त तक एक सा चरित्र असफल माना जाता है। वार्तालाप जितना अधिक हो उतना ही अच्छा है। वार्तालाप का प्रत्येक शब्द ऐसा होना चाहिए जो पात्र के मनोभावों और चरित्र पर प्रकाश डाले। यह स्वाभाविक परिस्थितियों के अनुकूल, सरल, सरस और सूक्ष्म होना चाहिए। इन विशेषताओं के आधार पर प्रेमचन्द सफल उपन्यास की निम्नलिखित कसौटी निर्धारित करते हैं—"जिस उपन्यास को समाप्त करने के बाद पाठक अपने अन्दर उत्कर्ष का अनुभव करे, उसके सद्भाव जाग उठें, वही सफल है।"

अपने उपरोक्त विचारों के अनुसार ही प्रेमचन्द ने अपनी उपन्यास कला का निर्माण करते समय उपन्यास-कला के सम्पूर्ण उपकरणों में एक अद्भुत सामंजस्य एवं सन्तुलन स्थापित करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की थी। परन्तु कुछ आलोचकों ने प्रेमचन्द के उपन्यासों की आलोचना करते हुए उनमें अनेक दोष ढूंढ़ निकाले हैं, जैसे उनके उपन्यासों के कथानक शिथिल हैं, उनमें घटना बाहुल्य है, मनोवैज्ञानिक चित्रण का अभाव है, असम्भव घटनाओं का चित्रण है, भाषा उच्च भावों को प्रगट करने में असमर्थ है आदि। इस दृष्टि से तो प्रेमचन्द को अत्यन्त साधारण श्रेणी का उपन्यासकार मानना पड़ेगा। परन्तु हम देखते यह हैं कि यह कलाकार हिन्दी साहित्य में अपना जबाब नहीं रखता। यदि उनमें इतनी त्रुटियाँ हैं तो वे सबसे अधिक प्रभावित क्यों करते हैं। इसका कारण यह है कि उनका उद्देश्य जीवन का चित्रण करना था न कि उपन्यास-कला के सिद्धान्तों को सामने रखकर उपन्यास लिखना। जीवन के इसी सजीव चित्रण में उनकी उपन्यास-कला की सफलता का रहस्य छिपा हुआ है। उनके उपन्यास एवं कहानियाँ एक सामूहिक चित्र उपस्थित कर गहरा प्रभाव डालती हैं। कला के अन्य उपकरण उनकी उर्वर कल्पना एवं उनके अन्तस्तल में छिपा हुआ कलाकार स्वतः ही

सजाता चला जाता है। वे इसके लिए प्रयत्न नहीं करते। यही स्वाभाविकता उनकी कला की जान है। यदि हम इसे खंड-खंड करके देखेंगे तो सम्भव है कि कुछ सीमा तक उपरोक्त आरोप उनकी कुछ कृतियों के विषय में आंशिक रूप में ठीक निकलें। मगर कला को विभाजित करके देखना असंगतियों की सृष्टि करता है। हमें केवल उसके सामूहिक प्रभाव को देखकर ही उसका मूल्यांकन करना चाहिए। और प्रेमचन्द की कला के इसी सामूहिक प्रभाव को देखकर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—

"आप सारे समाज को आयने में की भाँति प्रत्यक्ष देख सकते हैं। आप देखेंगे कि छोटी-छोटी घटनायें कितने बड़े परिणाम की वाहिका हैं। सारी जाति को ऊपर से नीचे तक, उसके सब गुण-दोषों के साथ देखने के लिए आपके पास दूसरा साधन नहीं। चुभते हुए व्यंग्यवाण आपको सदा सचेत किए रहेंगे। अर्थान्तरन्यासात्मक उक्तियाँ आपको सहलाती चलेंगी, फड़कती हुई भाषा आपको आगे ढकेलती जायगी। वक्तव्य विषय का वर्गीकरण आपको उल्लसित करता रहेगा। आप समूचे समाज को बड़ी आसानी से, फिर भी बड़ी गहराई तक देख सकेंगे, विचार कर सकेंगे और समझ सकेंगे।"

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे समर्थ आलोचक की उपरोक्त गवाही को पढ़ने के उपरान्त भी प्रेमचन्द की उपन्यास-कला को त्रुटिपूर्ण कैसे माना जा सकता है। कला-विषयक आरोप कलावादी आलोचकों ने लगाए हैं। वे 'कला' का रंगीन चश्मा पहन कर प्रेमचन्द साहित्य में केवल कला को ढूंढ़ते फिरते हैं, फ्रायडियन मनोविज्ञान की उसमें खोज करते हैं, कृत्रिम भाषा का पता लगाते हैं और यह सब उन्हें नहीं मिल पाता। क्योंकि प्रेमचन्द की कला शुद्ध कला न होकर जीवन का लबादा ओढ़ कर आती है; वहाँ हम कला और जीवन को एकरस पाते हैं। इसी कारण कलावादी उसे नहीं देख पाते। इसमें दोष प्रेमचन्द का माना जाय या इन आलोचकों का?

प्रेमचन्द की उपन्यास-कला विषयक उपरोक्त विवेचन को सामने रखकर जब हम 'ग़बन' को देखते हैं तो इस उपन्यास को प्रेमचन्द के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों के समकक्ष बैठा हुआ पाते हैं। वाजपेयी जी के शब्दों में—"रंगभूमि के पश्चात् आने वाले 'ग़बन' नामक उपन्यास से प्रेमचंद जी के साहित्यिक विकास का दूसरा सोपान प्रारम्भ होता है। यह उनके औपन्यासिक विकास की प्रौढ़ता का परिचायक है।…ग़बन में परि-स्थिति और चरित्र-निर्माण का एक दूसरे से अविच्छेद्य सम्बन्ध स्थापित हो गया है। परिस्थितियों और चरित्रों का अन्तर्वर्तितत्व इस कृति में दिखाई देता है। अर्थात् परिस्थितियों का पात्रों पर और पात्रों का परिस्थितियों पर कैसा स्वाभाविक प्रभाव पड़ता है और वे एक दूसरे से अविच्छिन्न रहकर किस प्रकार विकसित होते हैं, इसका सुन्दर निरूपण इस उपन्यास में है।"

'ग़बन' में विषय, समस्या और पात्रों की संख्या में काफी कमी हो गई है। इस कारण चित्रण अधिक गहरे और व्यापक हो गए हैं। पात्रों का विकास मनोवैज्ञानिक आधार पर किया गया है। इसमें न तो रंग-भूमि का सा कथा-विस्तार है और न 'कायाकल्प' की सी चमत्कारी घटनाओं को स्थान मिला है। रमा, जालपा, रतन, जोहरा, देवीदीन आदि थोड़े से पात्र जीवन के गहरे और कटु अनुभव लेकर आगे बढ़ते रहते हैं। और इस सीमित क्षेत्र में प्रेमचन्द सम्पूर्ण समाज, राजनीति, पुलिस के अत्याचारों आदि का प्रभावशाली चित्रण कर जाते हैं। "मनोविज्ञान की भित्ति पर देशकाल का वास्तविक, स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक चित्रण" करने में प्रेमचन्द को इस उपन्यास में सर्वाधिक सफलता मिली है।

इस उपन्यास में प्रेमचन्द ने भरसक अनावश्यक पात्रों से बचने का प्रयत्न किया है। प्रत्येक पात्र यदि कथा के विकास में सहयोग नहीं देता तो कम से कम मूल समस्या से सम्बन्धित किसी गौण समस्या पर प्रकाश अवश्य डालता है। रतन और जोहरा का यही उपयोग है। प्रेमचन्द ने कदाचित् इसी उपन्यास में सर्वप्रथम संक्षिप्तता का ध्यान

रखा है। ऐसे वर्णन इसमें ढूंढ़ने से भी नहीं मिलते जिनके विस्तार एवं भारी-भरकम पन को देखकर पाठक ऊब उठे। प्रेमचन्द चुने हुए शब्दों में मूल विषय पर प्रकाश डालते हुए आगे बढ़ जाते हैं। इति-वृत्तात्मक वर्णन अथवा लम्बे चौड़े व्याख्यान उपन्यास को बोझिल नहीं बना पाते।

इसमें किसी भी विषय को लेकर उपन्यासकार ने अपने विचारों को विस्तार नहीं दिया है। उन्हें जो कुछ भी कहना हुआ है उसके प्रति संकेत मात्र करते चले गए हैं। इसके लिए उन्होंने व्यंग्यात्मक शैली का उपयोग किया है।

इस तरह कला की दृष्टि से देखने पर 'ग़बन' पूर्ण सफल और प्रौढ़ कृति प्रमाणित होती है। इसे पढ़ने पर मध्यवर्ग का पूरा चित्र अपनी सम्पूर्ण अच्छाइयों और बुराइयों के साथ सामने आ जाता है। यह एक ऐसा दर्पण है जिसमें यह वर्ग अपने पूर्ण रूप को अत्यन्त स्पष्टता के साथ देख सकता है। और इसका यथार्थ चित्रण कर प्रेमचन्द ने इस बात की ओर संकेत किया है कि इस वर्ग को इस विषमता से बचाने के लिए आर्थिक दृष्टि से उसे आत्म-निर्भर बनाना पड़ेगा तथा उसके महत्व के प्रति थोथे मोह की प्रवृत्ति को नष्ट करना पड़ेगा।

यह उपन्यास कला की दृष्टि से जितना सफल है उतना ही भाषा की दृष्टि से भी। 'ग़बन' की भाषा एवं शैली का विवेचन करने के लिए पहले हमें प्रेमचन्द के भाषा-विषयक विचारों को जान लेना आवश्यक है क्योंकि वे साहित्य-रचना में भाषा का बहुत बड़ा स्थान मानते थे।

प्रेमचन्द ने अपने कथा-साहित्य द्वारा एक बहुत बड़ा काम यह किया था कि उन्होंने हिन्दी को एक सजीव, सरल एवं सशक्त गद्य-शैली प्रदान की थी। उन्होंने अपनी भाषा द्वारा यह सिद्ध कर दिया था कि किस प्रकार हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी के झगड़े से दूर रहते हुए, भाषा का बिना संस्कृतीकरण या फारसीकरण किए स्वाभाविक, शक्तिशाली और विचारपूर्ण गद्य लिखा जा सकता है। अपनी सरल, प्रवाहपूर्ण और सजीव भाषा-शैली के कारण ही उन्हें इतनी लोकप्रियता प्राप्त हुई थी।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में प्रेमचन्द से पूर्व—"भाषा में बंगला का अनुकरण केवल शब्दों और मुहावरों में ही नहीं, नामों और विचारों तक में किया जा रहा था। प्रेमचन्द ने पहले पहल इन काल्पनिक घरौंदों को ठोकर मार कर तोड़ दिया। उन्होंने हिन्दी को हर प्रकार से हिन्दी किया। उन्होंने उर्दू हिन्दी के भेद को कम कर दिया और भाषा में नई प्राणशक्ति फूंक दी।" प्रेमचन्द हिन्दी-उर्दू को दो भाषायें न मानकर एक ही भाषा की दो शैलियाँ मानते थे। वे साहित्य की सफलता उसी रूप में मानते थे—"जिसकी भाषा प्रौढ़ परिमार्जित और सुन्दर हो और जिसमें दिल और दिमाग पर असर डालने का गुण हो।" ऐसी भाषा का उनका आदर्श उस भाषा से था जिसे उर्दू और हिन्दी वाले दोनों ही समझ सकें क्योंकि इस पारस्परिक आदान-प्रदान से एक मिली जुली साहित्यिक शैली का विकास हो सकता है। और इस मिली-जुली भाषा को उन्होंने 'हिन्दुस्तानी' नाम दिया था। इस भाषा का स्वरूप उन्हीं के शब्दों में ऐसा था—"वह ऐसी भाषा हो जो उर्दू और हिन्दी दोनों ही के संगम की सूरत में हो, जो सुबोध हो और आम बोलचाल की हो।"

उस समय हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का आन्दोलन जोरों पर था। कुछ लोगों का यह मत था कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसमें संस्कृत शब्दों का अधिकाधिक प्रयोग हो जिससे अन्य प्रान्त वाले उसे आसानी से समझ सकें। ऐसा ही प्रयत्न इधर भी कुछ लोग कर रहे हैं। इसका उत्तर देते हुए 'हिन्दुस्तानी' के समर्थक प्रेमचन्द ने कहा था कि—"ऐसा करने से दूसरे सूबों के लोग चाहे आपकी भाषा समझ लें, लेकिन खुद हिंदी बोलने वाले न समझ सकेंगे।" इसलिए वे भाषा का रूप सरल रखने के पक्ष में थे जिससे साधारण जनता उस सरल भाषा में लिखे गए साहित्य को आसानी से समझ ले। और ऐसा तभी सम्भव था जब हिंदी-उर्दू के, बड़े लोगों द्वारा पैदा किए गए, भेद को मिटा दिया जाय क्योंकि—"बोलचाल की हिंदी समझने में न तो साधारण मुसलमानों को ही कोई

कठिनता होती है और न बोलचाल की उर्दू समझने में साधारण हिंदुओं को ही। बोलचाल की हिंदी और उर्दू प्रायः एक सी ही है।"

ऐसी ही भाषा द्वारा जनता में अपनी मातृभाषा के प्रति प्रेम उत्पन्न किया जा सकता है। भाषा अपने विचारों के प्रचार का सबसे बड़ा साधन होती है। आप जनता को बात जनता की ही भाषा में कहकर उसे समझा सकते हैं। परन्तु प्रेमचन्द के समय में जनता की भाषा की उपेक्षा की जा रही थी। उच्चवर्गीय हिंदी और उर्दू के लेखक भाषा को संस्कृतमय और फारसीमय बनाने के पक्ष में थे। तीसरा उच्चवर्ग अंग्रेजी के मोह में पड़कर पूर्ण रूपेण विदेशी बन चुका था। वह अंग्रेजी भाषा, अंग्रेजी संस्कृति और अंग्रेजी साहित्य का अनन्य उपासक होते हुए भी भारत की आदाजी की माँग उठा रहा था। इस वर्ग पर व्यंग कसते हुए प्रेमचन्द ने लिखा था कि—"अंग्रेजी राजनीति का, व्यापार का, साम्राज्यवाद का, हमारे ऊपर जैसा आतंक है, उससे कहीं ज्यादा अंग्रेजी भाषा का है। अंग्रेजी राजनीति से, व्यापार से, साम्राज्यवाद से तो आप बग़ावत करते हैं, लेकिन अंग्रेजी भाषा को आप गुलामी के तौक़ की तरह गर्दन में डाले हुए हैं।" इस तरह प्रेमचन्द जनता की भाषा में ही साहित्य का सृजन कर जनता को जागृत करना चाहते थे।

प्रेमचन्द के उपरोक्त भाषा-विषयक दृष्टिकोण के विरोध में कुछ लोगों ने यह तर्क उठाया कि बोलचाल की भाषा और साहित्यिक भाषा में अन्तर होता है। प्रेमचन्द ने इसका जवाब देते हुए कहा था कि—"यह जरूर सच है कि बोलने की भाषा और लिखने की भाषा में कुछ न कुछ अन्तर अवश्य रहता है। लेकिन लिखित भाषा सदैव बोलचाल की भाषा से मिलते-जुलते रहने की कोशिश किया करती है। लिखित भाषा की खूबी यही है कि वह बोलचाल की भाषा से मिले। इस आदर्श से वह जितनी दूर हो जाती है उतनी ही अस्वाभाविक हो जाती है।" प्रेमचन्द के भाषा-विषयक इस द्रष्टिकोण के आधार पर निर्मित उनके साहित्य की सबसे बड़ी सफलता का प्रमाण यही है कि आज एकस्वर

से यह मांग उठाई जा रही है कि हमारी राष्ट्र-भाषा का स्वरूप 'प्रेम-चन्दी हिन्दी' होना चाहिए क्योंकि वही एकमात्र ऐसी भाषा है जिसे जनता समझती और बोलती है। राष्ट्रीय जागरण के लिए आज इसी भाषा की जरूरत है।

और 'ग़बन' की भाषा इस राष्ट्रभाषा के लिए आदर्श भाषा मानी जाती है।

अन्य लेखकों की तरह आरम्भ में प्रेमचन्द को भी संस्कृत और फारसी के क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग करने का मोह था परन्तु जैसे-जैसे उनका जीवन अनुभव बढ़ता गया, उनकी संवेदना अधिक गहरी होती गई, वैसे-वैसे उनका यह मोह छूटता गया और भाषा एवं शैली में निखार आता गया। 'शतरंज के खिलाड़ी' नामक कहानी से उनकी समर्थ भाषा का एक नमूना देकर हम 'ग़बन' की भाषा की विवेचना करेंगे। भाषा का परिस्कृत, प्रौढ़, संस्कृत पदावली से शुभ्र और उर्दू से चंचल उच्च भावों को पूर्णतः व्यक्त करने में समर्थ रूप देखिए—

"दोनों दोस्तों ने कमर से तलवारें निकाल लीं। नबावी ज़माना था, सभी तलवार, पेशकब्ज, कटार बगैरा बांधते थे। दोनों विलासी थे; पर कायर न थे। उनमें राजनीतिक भावों का पतन हो गया था—बादशाह के लिए क्यों मरें, पर व्यक्तिगत वीरता का अभाव न था। दोनों ने पैंतरे बदले, तलवारें चमकी, छपाछप की आवाजें आईं। दोनों जख्म खाकर गिरे और दोनों ने वहीं तड़प-तड़प कर जानें दे दीं। अपने बादशाह के लिए जिनकी आँखों से एक बूंद आँसू न निकला उन्हीं दोनों प्राणियों ने शतरंज के बज़ीर की रक्षा में प्राण दे दिए।"

उपरोक्त वर्णन आँखों के आगे एक सजीव चित्र उपस्थित कर देता है। छोटे-छोटे वाक्य, चुभते हुए सरल शब्द, गहरी भाव-व्यंजना इस शैली के प्राण-तत्व हैं। ऐसी भाषा प्रेमचन्द ही लिख सकते थे। वर्णन की इसी अद्भुत शक्ति एवं सौन्दर्य का एक उदाहरण 'ग़बन' से भी द्रष्टव्य है। भादों के महीने की उमड़ती, उफनती हुई गंगा का रूप देखिए—

"भादों का महीना था। पृथ्वी और जल में रण छिड़ा हुआ था। जल की सेनाएं वायुयान पर चढ़कर आकाश से जल-शरों की वर्षा कर रहीं थीं। उसकी थल-सेनाओं ने पृथ्वी पर उत्पात मचा रखा था। गंगा गाँवों और कस्बों को निगल रही थी।...लहरें उत्पन्न होकर गरजतीं, मुँह से फेन निकालती, हाथों उछल रहीं थीं; चतुर फिकैतों की तरह पैंतरे बदल रहीं थीं। कभी एक कदम आगे जातीं, फिर पीछे लौठ पड़तीं और चक्कर खाकर फिर आगे को लपकतीं। कहीं कोई झोंपड़ा डगमगाता तेजी से बहा जा रहा था, मानों कोई शराबी दौड़ा जाता हो; कहीं कोई वृक्ष डाल-पत्तों समेत डूबता-उतराता किसी पाषाण-युग के जन्तु की भाँति तैरता जाता था; गायें और भैंसें, खाट और तख्ते मानो तिलिस्मी चित्रों की भाँति आँखों के सामने से निकले जाते थे।"

यह वर्णन उफनती गंगा का पूरा चित्र उपस्थित कर देता है। रवानगी इसकी विशेषता है। उपमायें बिना प्रयास अपने आप हाथ बांधे भागी चली आ रहीं हैं। प्रेमचन्द इस प्रकार की भाषा गढ़ने में जान-बूझ कर प्रयत्न नहीं करते। वह तो अनायास ही उनकी लेखनी से निकलती चली आती है। छोटे-छोटे वाक्यों में भावों, विचारों एवं परिस्थितियों का सजीव चित्रण होता रहता है। इसलिए यह इतनी स्वाभाविक होती है। अत्यन्त सरल, प्रवाहपूर्ण, भावों को सफलता पूर्वक व्यक्त करने वाली भाषा का एक और उदाहरण 'ग़बन' से देखिए—

"गाड़ी चल दी, उस वक्त रमा को अपनी दशा पर रोना आ गया। हाय, न जाने उसे कभी लौटना नसीब भी होगा या नहीं। फिर यह सुख के दिन कहाँ मिलेंगे? यह दिन तो गए, हमेशा के लिए गए। इसी तरह सारी दुनियां में मुँह छिपाए, वह एक दिन मर जायेगा। कोई उसकी लाश पर आँसू बहाने वाला भी न होगा। घर वाले भी रो-धोकर चुप हो रहेंगे।"

प्रेमचन्द की भाषा की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि वह वस्तु

पात्र और देशकाल के साथ रूप बदलती हुई चलती है। इसके पात्र जिस वर्ग और भाषा के बोलने वाले होते हैं, उनकी भाषा भी वैसी ही हो जाती है। कलकत्ते में पुलिस का बंगाली डिप्टी रमा को जब धमकाता है तो उसकी बोली का बिगड़ा हुआ रूप देखिए—"नहीं, आपका वास्ते इससे बुरा दोसरी बात नहीं है। हम तुमको छोड़ेगा नहीं। हमारा मुकदमा चाहे बिगड़ जाय, लेकिन हम तुमको ऐसा 'लेसन' दे देगा, कि तुम उमिर भर न भूलेगा। आपको वही गवाही देना होगा जो आप दिया। अगर तुम कुछ गड़बड़ करेगा, कुछ भी गोलमाल किया तो हम तोमारे साथ दोसरा बर्ताव करेगा। एक रिपोर्ट में तुम यों (कलाइयों को ऊपर नीचे रखकर) चला जायगा।"

बंगाली प्रायः इसी प्रकार की टूटी फूटी हिन्दी बोला करते हैं।

अब पुलिस के इन्स्पेक्टर की, जो शायद मुसलमान है, भाषा सुनिए। वह रमा को जेल का डर दिखाता हुआ कहता है—"हलफ से कहता हूँ, अफसरों की जरा सी निगाह बदल जाय तो आपका कहीं पता न लगे। हलफ से कहता हूँ, एक इशारे में आपको दस साल की सजा हो जाय। आप हैं किस खयाल में। हम आपके साथ शरारत नहीं करना चाहते।....जेल को आसान न समझिएगा। खुदा दोज़ख में ले जाए पर जेल की सजा न दे। चक्की में जोत दिया तो मौत ही आ गई। हलफ से कहता हूँ, दोज़ख से बदतर है जेल।"

इसी प्रकार वेश्या जोहरा की भाषा भी अपना अलग नमूना रखती है। अशिक्षित देवीदीन एक निराली ही भाषा बोलता है जो उपरोक्त सभी भाषाओं से भिन्नता रखती है। देवीदीन की भाषा के कुछ उदाहरण गत प्रश्नों में उद्धृत किए जा चुके हैं। यहाँ केवल एक और उदाहरण दिया जाता है। देवीदीन रमा को पुलिस से न डरने के लिए समझा रहा है—

"सिपाही क्या पकड़ लेगा, दिल्लगी है। मुझसे कहो, मैं प्रयागराज के थाने में ले जाकर खड़ा कर दूँ। अगर कोई तिरछी आँखों से भी देखले तो मूँछ मुड़ा लूँ। ऐसी बात है भला ! सैकड़ों खूनियों का

जानता हूँ, जो यहीं कलकत्ते में रहते हैं। पुलीस के अफसरों के साथ दावतें खाते हैं; पुलीस उन्हें जानती है, फिर भी उनका कुछ नहीं कर सकती। रुपए में बड़ा बल है भैया।''

यही देवीदीन अंग्रेजी की 'प्राइमर' पढ़ना शुरू करता है और फिर 'प्राइमर' शब्द को लेकर रमा से मजाक करता है। वह कहता है—

"भैया, यह तुम्हारी अंग्रेजी बड़ी विकट है। एस-आई-आर 'सर' होता है तो पी-आई-टी 'पिट' क्यों हो जाता है।...जिस दिन प्राइमर खतम होगी, महावीर जी को सवा-सेर लड्डू चढ़ाऊँगा। पराई-मर का मतलब है, पराई स्त्री मर जाय। मैं कहता हूँ, हमारी-मर, पराई के मरने से हमें क्या सुख ?"

प्रेमचन्द की भाषा की एक विशेषता यह भी है कि कथावस्तु के विषय के अनुसार ही वह चंचल और गम्भीर हो उठती है। उनके भिन्न-भिन्न उपन्यासों में भाषा के भिन्न रूपों के दर्शन होते हैं। 'रंगभूमि' और 'कायाकल्प' की भाषा में गाम्भीर्य है क्योंकि रंगभूमि के भाषा-गाम्भीर्य का संरक्षण करता है सूरदास का आध्यात्मिक संघर्ष तथा 'कायाकल्प' में रानी देवप्रिया के जन्म-जन्मान्तरों से सम्बन्ध रखने वाले रहस्यों की व्याख्या करने के कारण भाषा में रंगभूमि की अपेक्षा भी अधिक गम्भीरता मिलती है। इसके विपरीत 'कर्मभूमि' और 'ग़बन' की भाषा चंचल है। 'कर्मभूमि' में चित्रित अमरकान्त के उग्र आदर्श ने भाषा को उग्र एवं चंचल बना दिया है। 'ग़बन' में जीवन के साधारण स्थिति-चित्रों का चित्रण किया गया है इसलिए इसकी भाषा में 'कर्म-भूमि' की भाषा की अपेक्षा अधिक चांचल्य है। संक्षेप में 'ग़बन' की भाषा सरल, सरस, तीखी, पैनी तथा मर्मस्थल पर आघात करने वाली है। चुस्त, मुहावरेदार और अलंकारमयी भी है। उपमायें तो अत्यन्त ही सुन्दर हैं। जनसाधारण के जीवन से यह अपने शब्द-चित्र बनाती है। जिस कथा-वस्तु के भीतर जितनी ही गम्भीरता और कोमलता रहती है उसकी व्यंजना प्रेमचन्द उतनी ही गम्भीर और

कोमल भाषा में करते हैं। जहाँ उग्रभावों की व्यंजना करनी पड़ती है वहाँ इनकी भाषा अपने आप ओजमयी हो उठती है। ओज, माधुर्य और प्रसाद ये तीनों ही गुण इनकी भाषा में सर्वत्र लक्षित होते हैं।

इसके अतिरिक्त प्रेमचन्द-साहित्य में सुन्दर मुहावरे, लोकोक्तियां और सुभाषित अपनी अद्‌भुत छटा विकीर्ण करते रहते हैं। उनमें काव्यगत सौन्दर्य भी रहता है और जीवन के गम्भीर अनुभव भी भरे रहते हैं। प्रेमचन्द की भाषा के क्षेत्र में इस अद्‌भुत सफलता का रहस्य उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है—"आदर्श व्यापक होने से भाषा अपने आप सरल हो जाती है। भाव-सौन्दर्य बनाव शृङ्गार से बेपरवाही दिखा सकता है। जो साहित्यकार अमीरों का मुँह जोहने वाला है वह रईसी रचना-शैली स्वीकार करता है, जो जन साधारण का है, वह जन साधारण की भाषा में लिखता है।" और इसमें कोई भी सन्देह नहीं कि प्रेमचन्द की साहित्य-रचना का आदर्श अत्यन्त व्यापक था।